INTERMEDIATE
HINDI SELECTIONS

REVISED EDITION
(Reprint)

UNIVERSITY OF CALCUTTA

Rs. 3/-

CONTENTS

PROSE

		PAGES
१।	आंसू—पंडित बालकृष्ण भट्ट	1
२।	सुचाल शिक्षा—प्रतापनारायण मिश्र ...	3
३।	रामलीला—माधवप्रसाद मिश्र	9
४।	ऋद्धि और सिद्धि—गोपालराम गहमरी ...	16
५।	एक दुराशा—बाबू बालमुकुन्द गुप्त	21
६।	कवि और कविता—महावीरप्रसाद द्विवेदी ...	24
७।	आपत्तियों का पर्वत—केशवप्रसाद सिंह ...	37
८।	समाज और साहित्य—श्यामसुन्दर दास ...	44
९।	उत्साह—रामचन्द्र शुक्ल	50
१०।	राजा भोज का सपना—राजा शिवप्रसाद ...	59
११।	भीष्माष्टमी—पुरुषोत्तमदास टंडन	72
१२।	ताई—विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ...	79
१३।	दो बैलों की कथा—प्रेमचन्द	90
१४।	प्रेम-तरु—सुदर्शन	103
१५।	होली—सुभद्रा कुमारी चौहान	118
१६।	मानुषी—सियाराम शरण गुप्त	121
१७।	आचरण की सभ्यता—पूर्ण सिंह	137

POETRY

		PAGES
१।	कबीर की साखियां—कबीर	1
२।	श्री उद्धव को मथुरा से ब्रज भेजते समय के कवित्त—जगन्नाथदास रत्नाकर	8
३।	सूरदास के पद—सूरदास	15
४।	अयोध्याकाण्ड—तुलसीदास (कवितावली से) ...	24
५।	रहीम-रत्नावली—रहीम	30
६।	रसखान—रसखान	32
७।	बिहारी के दोहे—बिहारीलाल	36
८।	गंगा और यमुना—'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र ...	38
९।	यशोदाविलाप—अयोध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध"	41
१०।	वसन्त और वर्षा—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ...	50
११।	भ्रमर-दूत—सत्यनारायण 'कविरत्न' ...	57
१२।	विकट भट—मैथिलीशरण गुप्त	64
१३।	बालापन—सुमित्रानन्दन 'पंत'	74
१४।	वे दिन—महादेवी वर्मा	77

———

INTERMEDIATE HINDI SELECTIONS

आंसू

मनुष्य के शरीर में आंसू भी गड़े हुए खज़ाने के माफ़िक़ हैं। जैसे कभी कोई नाज़ुक वक़्त आपड़ने पर संचित पूंजी ही काम देती है, उसी तरह हर्ष, शोक, भय, प्रेम इत्यादि भावों को प्रकट करने में जब सब इंद्रियां स्थगित होकर हार मान बैठती हैं, तब आंसू ही उन भावों को प्रकट करने में सहायक होते हैं। चिरकाल के वियोग के उपरान्त जब किसी दिली दोस्त से मुलाक़ात होती है, तो उस समय हर्ष और प्रमोद के उफान में अंग-अंग ढीले पड़ जाते हैं; वाष्प-गद्गद कंठ रुंध जाता है; जिह्वा इतनी शिथिल पड़ जाती है कि उससे मिलने की खुशी को प्रकट करने के लिये एक-एक शब्द मनों बोझ-सा मालूम पड़ता है। पहले इसके कि शब्दों से वह अपना असीम आनंद प्रकट करे, सहसा आंसू की नदी उसकी आंख में उमड़ आती है, और नेत्र के पवित्र जल से वह अपने प्राणप्रिय को नहलाता हुआ उसे बग़लगीर करने को हाथ फैलता है। सच्चे भक्त और उपासक की कसौटी भी इसी से हो सकती है। अपने उपास्य देव के नाम-संकीर्तन में जिसे अश्रुपात न हुआ, मूर्ति का दर्शन कर प्रेमाश्रुपात से जिसने उसके चरणकमलों का अभिषेक न किया, उस दाम्भिक को भक्ति के आभासमात्र से क्या फल? सरस कोमल चित्तवाले अपने मनोगत सुख-दुःख के भाव को छिपाने की हज़ार-हज़ार चेष्टा करते हैं कि दूसरा कोई इनके चित्त की गहराई को न थहा सके; पर अश्रुपात भाव-गोपन की सब चेष्टा को व्यर्थ कर देता है। मोती-सी आंसू की बूंदें जिस समय सहसा नेत्र से झरने लगती हैं, उस समय उन्हें रोक लेना बड़े-बड़े गंभीर प्रकृतिवालों की भी शक्ति के बाहर होजाता है।

यदि सृष्टिकर्ता अत्यंत शोक में अश्रुपात को प्राकृतिक न कर देता, तो वज्रपात-सम दारुण दुःख के वेग को कौन संभाल सकता? इसी भावार्थ को भवभूति ने

यों कहा है कि जैसे—बरसात में तालाब जब लबालब भर जाता है, तो बांध तोड़ कर उसका पानी बाहर निकाल देना ही सुगम उपाय बचाव का होता है। इसी तरह अत्यन्त शोक से क्षोभित तथा व्याकुल मनुष्य का अश्रुपात ही हृदय को विदीर्ण होने से बचा लेने का उपाय है। बल्कि ऐसे समय रोना ही राहत है।

कोई शूरबीर, जिसको रणचर्चा-मात्र सुन जोश आ जाता है और जो लड़ाई में गोली तथा बाण की वर्षा को फूल की वर्षा मानता है, वीरता की उमंग में भरा हुआ युद्ध-यात्रा के लिये प्रस्थान करने को तैयार है। बिदाई के समय विलाप करते हुए अपने कुनबेवालों के आंसू के एक-एक बूंद की क्या क़ीमत है, यह वही जान सकता है। वह शशोपंज में पड़ आगे को पांव रख फिर हटा लेता है। वीर और करुणा ये दो विरोधी रस अपनी-अपनी ओर से उमड़-उमड़ देर तक उसे किंकर्तव्यताविमूढ़ किए रहते हैं। आंख में आंसू उन्हीं अकुटिल सीधे सत्पुरुषों के आते हैं, जिनके सच्चे सरल चित्त में कपट और कुटिलाई ने स्थान नहीं पाया है। निठुर, निर्दयी, मक्कार की आंखें, जिसके कट्टर कलेजे ने कभी पिघलना जाना ही नहीं, दुनिया के दुःख पर क्यों पसीजेंगी? प्रकृति ने चित्त का आंख के साथ कुछ ऐसा सीधा सम्बन्ध रख दिया है कि आंखें चित्त की वृत्तियों को चट पहचान लेती हैं और तत्काल तदाकार अपने को प्रकट करने में देर नहीं करतीं, तो निश्चय हुआ कि जो बेकलेजे हैं, उनकी बैल-सी बडी-बडी आंखें केवल देखने ही को हैं, चित्त की वृत्तियों का उन पर कभी असर होता ही नहीं। चित्त के साथ आंख के सीधे सम्बन्ध को विहारी कवि ने कई दोहों में प्रकट किया है। यथा—

"कोटि जतन कीजै तऊ, नागरि नेह दुरै न;
कहे देत चित चीकनो, नई रुखाई नैन॥
दहैं निगोड़े नैन ये, गहैं न चेत-अचेत;
हौं कसि कै रिस को करौं, ये निरखत हंसि देत॥"

मृतक के लिये लोग हज़ारों-लाखों खर्चकर आलीशान रौज़े, मक़बरे, क़ब्रें संगमरमर या संगमूसा की बनवा देते हैं; क़ीमती पत्थर, मानिक, ज़मुर्रद से उन्हें आरास्ता करते हैं; पर वे मक़बरे क्या उसकी रूह को उतनी राहत पहुंचा सकते हैं, जितनी उसके दोस्त आंसू के क़तरे टपकाकर पहुंचाते हैं?

आंसू आंसू में भी भेद है। कितनों का पनीला कपार होता है, बात कहते रो देते हैं। अक्षर उनके मुख से पीछे निकलेगा, आंसुओं की झड़ी पहले ही शुरू हो जायगी। स्त्रियों के जो बहुत आंसू निकलते हैं, मानो रोना उनके पास गिरीं रहता है, इसका कारण यही है कि वे नाम ही की अबला और अधीर हैं। दुःख के वेग में आंसू को रोकनेवाला केवल धीरज है। उसका टोटा यहां हरदम रहता है। तब इनके आंसू का क्या ठिकाना! स्वत्वशाली धीरजवालों को आंसू कभी आते ही नहीं। कड़ी-से-कड़ी मुसीबत में दो-चार क़तरे आंसू के मानो बड़ी बरक़त हैं। बहुत मौकों पर आंसू ने ग़ज़ब कर दिया है। सिक़ंदर का कौल था कि मेरी मा की आंख के एक क़तरा आंसू की कीमत मैं बादशाहत से भी बढ़कर मानता हूं। रेणुका के अश्रुपात ही ने परशुराम से एक्कीस बार क्षत्रियों का संहार कराया था।

कितने ऐसे लोग भी हैं, जिन्हें आंसू नहीं आते। इसलिये जहां पर बडी ज़रूरत आंसू गिराने की हो, तो उनके लिये प्याज़ का गटा पास रखना बड़ी सहज तरकीब है। प्याज़ ज़रा-सा आंख में छू जाने से आंसू गिरने लगते हैं।

"किसी को बैंगन बावले, किसी को बेंगन पत्थ।"

बहुधा आंसू का गिरना भलाई और तारीफ़ में दाखिल है। हमारे लिये आंसू वड़ी बला है। नज़ले का जोर है, दिन-रात आंखों से आंसू टपकते हैं। ज्यों-ज्यों आंसू गिरते हैं, त्यों-त्यों बीनाई कम होती जाती है। सैकड़ों तदबीरें कर चुके, आंसू का टपकना बन्द न हुआ। क्या जाने, बंगाल की खाड़ी-वाला समुद्र हमारे ही कपार में आकर भर रहा है? आंख से तो आंसू चला ही करते हैं। आज हमने लेख में भी आंसू ही पर क़लम चला दी। पढ़नेवाले इसे निरी नहूसत की अलामत न मान हमें क्षमा करेंगे।

सुचाल शिक्षा

साधारण व्यवहार

नित्य कर्मों के साथ साधारण व्यवहारों पर भी बहुत ही ध्यान रखना चाहिये। इनका नियम भङ्ग होने से भी, यद्यपि साधारणतः कोई बड़ी हानि नहीं देख पड़ती,

पर वस्तुतः है बहुत ही बुरा। एक न एक दिन इस रीति की उपेक्षा के कारण कोई न कोई आत्मिक, शारीरिक, सामाजिक क्षति ऐसी होती है कि चिरकाल तक चित्त को खेद रहता है। अतः जो लोग अपने जीवन को उत्तम बनाया चाहते हैं उन्हें इस बिषय में सावधान रहना उचित है। यह सावधानता अपने तथा अपने सम्बन्धियों के मन को प्रसन्नता और समय पड़ने पर परस्पर की साहाय्य-प्राप्ति का बड़ा भारी अंग है। साधारण व्यवहार से हमारा अभिप्राय उन कामों से है जो हमें नित्य अथवा बहुधा दूसरों के साथ करने पड़ते हैं। उनका नियम भी प्रायः सभी पढ़ने लिखनेवाले तथा पढ़े लिखों की सङ्गति में रहनेवाले जानते हैं। पर केवल जानने ही से कुछ नहीं होता। अस्मात् हमारे पाठकों को उनका पूर्ण अभ्यास रखना योग्य है। इसी से हम यहां पर लिखते हैं और आशा रखते हैं कि वाचकवृन्द इसे अपने बर्ताव में लावेंगे और कभी दैवयोग से चूक पड़ जाय तो आगे के लिये अधिक सावधानी रक्खेंगे। वह बातें यह हैं, अर्थात् अपने वेष और वाणी को ऐसा बनाये रहना चाहिये जिससे किसी को अश्रद्धा न उत्पन्न हो जाय। घर के भीतर वा जिन लोगों से सब प्रकारका घराऊ सम्बन्ध है उनके सामने फटे पुराने वा कुछ मैले कपड़े पहने रहने में हानि नहीं है, पर घी तेल पसीना अथवा बरसाती सील की गन्ध उनमें भी न होनी चाहिये नहीं तो अपना और मिलनेवाले का मस्तिष्क क्लेश पावैगा; ऐसे अवसर पर हस्तपादादि का खुला रहना भी दूषित नहीं है पर यदि कहीं पर कोई घृणाकारक घाव वा फोड़ा इत्यादि हो तो आत्मियों के सम्मुख भी छिपाये ही रहना चाहिये। हां घर से बाहर थोड़ी दूर भी जाना हो तो सिर पांव पेट पीठ सब स्वच्छ वस्त्रों से आच्छादित रखना उचित है जिसमें ऐसा कहने का अवसर न पड़े कि कपड़े अच्छे नही हैं फिर अमुक के यहां क्यों कर जायं? नहीं, जब बाहर निकले हो तो सब कहीं जानेके योग्य वस्त्र चाहियें। यहां यह भी स्मरण रखना योग्य है कि वस्त्रों की अच्छाई केवल स्वच्छता और निज सामर्थ्य की अनुकूलता पर निर्भर है न कि बहुमूल्यता पर। जाति की चाल और घर की दशा जैसी हो वैसे ही कपड़े प्रतिष्ठा के लिये बस हैं। अधिक दाम यदि भोजन में लगाये जांय तो शरीर की पुष्टि होती है किन्तु वस्त्रों के लिये व्यय किये जांय तो तुच्छता है। जब कि पिता माता भाई आदि साधारण कपड़े पहिनते हैं, तब हमारा बाबू बने फिरना व्यर्थ ही नहीं बरंच लज्जास्पद है। हां

फटे और मैले तथा दुर्गन्धित वस्त्र न हों। बस ; और इनके साथ ही छड़ी छाता जूता आदिका भी ध्यान रहै। शीतोष्ण वर्षा तथा अंधेरे उजाले में इनका भी काम पड़ता है अतः सामर्थ्य के अनुकूल वे भी चाहियें। बरसते में अथवा कड़ी धूप में इनके बिना भी चल देना कष्टकारी और हीनताप्रदर्शक है। इससे सावधानी के साथ रहना उचित है किन्तु गरमी सर्दी आदि सहने का भी अभ्यास बना रहै तो अत्युत्तम है ; इसके अनन्तर बोल चाल और बर्ताव पर ध्यान रखना उचित है अर्थात् झूठी कठोर गर्वपूर्ण और लज्जा घृणा तथा अमङ्गल प्रकाशकरने-वाली बातें कभी किसी के प्रति न निकालनी चाहियें।) (यहांतक कि जो लोग-जाति और पद आदि में नीच हैं उन से भी सज्जनता ही के साथ बोलना योग्य है विशेषतः जो अवस्था, प्रतिष्ठा, विद्या, अनुभवशीलता, जाति अथच पदवी में अपने से श्रेष्ठ हैं उनके सम्मुख बहुत संभाल के बात चीत करना चाहियें, नम्रता स्नेह और आदर से भरी हुई बातें मधुर और गम्भीर स्वरसे मुख पर लानी चाहियें। यदि उनका कोई वाक्य अपने विचार के विरुद्ध हो तौ भी हठ न करके उनकी श्रेष्ठता रक्खे हुये जिज्ञासू की भांति अपना अभिमत प्रकाश करना योग्य है। वे रोष प्रकाश करें तथापि शिष्टता ही से उत्तर देना चाहिये और कोई हास्य की बात कहके समता का द्योतन करें तथापि उत्तर में हास्य तथा बराबरी दिखलाना अनुचित है। मित्रों के साथ बराबरी और परिहास करना दूषणीय नहीं है पर वहीं तक कि जहां तक उनकी और अपनी योग्यता बनी रहै तथा उनका कोई सच्चा दोष न प्रकाशित हो। एवं उन्हें उत्तर देने में सङ्कोच व लज्जा न लगै, इसके अतिरिक्त साधारण परिचयवालों से भी उपयुक्त ही रीति से वार्तालाप करना चाहिये किन्तु इतना विचार और भी रखना योग्य है कि अपनी विद्वत्ता दिखलाने को ऐसे शब्द न बोलना चाहिये जो वे समझ न सकें और ऐसी बातें भी जिह्वा पर न लानी चाहियें जिन से किसी प्रकार की अपनी या उनकी हीनता प्रगट हो वा खुशामद पाई जाय। यह नियम तो दो चार जनों के बीच में बोलने बतलाने के हैं, जब सौ दो सौ मनुष्यों के बीच में बोलना पड़ै तो इतनी विशेषता चाहिये कि स्वर इतना ऊंचा अवश्य रहै कि सब कोई भली भांति सुन लें और बात वही निकले जिसके सिद्ध कर देने की पूरी सामर्थ्य हो तथा जिसका प्रभाव आधे से अधिक लोगों के जी पर हो सकै। यदि इतनी क्षमता न हो तो चुपचाप बैठे रहना वा धर्म और राजा प्रजा का बिरोध

न हो तो अधिकतर लोगों की हां में हां मिला देना ही बहुत है। इन दोनों अवसरों पर किसी की बात काठ के बोल उठना वा प्रयोजन से अधिक बोलना भी अनुचित है; बस। अब रहा बर्ताव का ढंग वह यों है कि सब से अधिक प्रीति और निश्छलता तो अपने कुटुम्बियों के साथ रखनी चाहिये। इनके हित में सदा सर्व प्रकार तन मन धन से उद्यत रहना चाहिये। इनके सामने सारे संसार का संकोच छोड़ देना उचित है तथा नीतिमान राजा, सदाचारी गुरु और निष्कपट मित्रों को भी इन्ही के समान जानना योग्य है। इन से उतर के सहवासियों और सजातियों का स्नेह कर्तव्य है। इसके उपरान्त स्वदेशियों और फिर यावज्जगत का भला चाहना चाहिये। यों बड़ी बड़ी बातें बनाना और बात है पर सचमुच का बर्ताव इसी रीति से हो सकता है। अतः अभ्यास से भी यही ढंग अच्छा है। इस पर दृष्टि रक्खे हुये जो कुछ कीजिये इस प्रकार कीजिये। किसी आत्मीय वा परिचित व्यक्ति पर उस कार्य का भार मत रखिये जो अपने किये हो सकता हो। किसी से इतना हेलमेल न बढ़ाइये जो सदा न निभ सके। किसी को उस बात का आसरा न दीजिये जो अपनी सामर्थ्य से बाहर हो, किसी से उन बातों के पूछने में हठ न कीजिये जो वह छिपाया चाहता हो, किसी के साथ कोई उपकार कीजिये तो पलटा वा प्रशंसा पाने की मनसा से न कीजिये, यदि किसी को अयोग्य स्थान पर बैठे वा खड़े हुये देखिये तो उस समय मुंह फेर लीजिये, किसी मे कोई दोष देखिये तो घृणा न कीजिये बरंच प्रीति पूर्वक उसे सुमार्ग पर लाने का यत्न कीजिये, किसी का तब तक विश्वास न कर लीजिये जब तक दस पांच बेर परीक्षा न मिल जाय, किसी की निन्दा सुन कर प्रसन्न न हूजिये क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं है कि निन्दक तुम्हें छोड़ देंगे; किसी को कोई लोकहितकारी काम करते देखिये तो उसकी याचना के बिना भी यथासाध्य सहायता कीजिये, कोई अपने यहां आवै तो उसे आदर ही से लीजिये चाहै वह शत्रु ही हो। कोई अपनी ही दुर्बुद्धि या दुष्कृति के कारण दुःख में पड़ा हो तौ भी उसे उपालम्भ की भांति उपदेश न कीजिये, सामर्थ्य भर सहानुभूति ही दिखलाइये, कोई अपने साथ दुष्टता करै तो यदि उसके कारण धन और मान पर आंच न आती देख पड़े तो क्षमा कर दीजिये पर दूसरों के प्रति दुराचरण करते देख कर कभी उपेक्षा न कीजिये। कोई कुछ कहै तो सुन अवश्य लीजिये पर कीजिये वही जो अपनी और चार अनु-

भवियों की समझ में अच्छा जान पडे। कोई समझ बूझ कर सदुपदेश न माने तो उसे शिक्षा देना व्यर्थ है, कोई किसी बिषय में सम्मति मांगे वा ठहरावे तो बहुत सोंच बिचार के उचित उपाय बतलाइये और बड़ी सावधानी से निर्णय कीजिये, कोई दो बारवार धोखा दे तो फिर उसे मुहं मत लगाइये चाहे कैसे ही पुष्ट प्रमाणों के साथ मित्रता दिखलावे, कोई मुहंपर स्पष्ट शब्दों में दोष वर्णन कर दे तो उस पर क्रोध न कीजिये क्यों कि वह यद्यपि अशिष्टता करता है पर किसी समय उससे प्रवञ्चन की सम्भावना नहीं है, कोई रोग बिपत्ति वा उन्माद की दशा में कुवाक्य कह बैठे तो ध्यान न दीजिये क्यों कि वह अपने आपे में नहीं है, कोई उपहास वा विवाद की रीति से धर्म वा कुल की रीति के विषय में कुछ पूंछे तो कभी न बतलाइये; जिसमें भिन्नता हो उसके साथ लेन देन कभी न कीजिये, जिसके साथ नया नया परिचय हुया हो उससे निस्संकोच बर्ताव न कीजिये, जिससे किसी प्रकार का काम निकलता हो उसे रुष्ट करना नीतिविरुद्ध है, जिसने एक बार भी उपकार किया हो उसका गुण सदा मानना चाहिये बरंच प्रत्युपकार का समय आ पड़े तो कभी चूकना उचित नहीं; जिसका बहुत लोग सम्मान करते हों अथवा जिससे डाह करते हों पर कुछ कर न सकते हों, उसके साथ यत्नपूर्वक जान पहिचान करनी योग्य है, जिसकी अवस्था वा दशा अपने से न्यून हो उसके सम्मुख अपने बराबर-वालों से स्वच्छन्द संभाषण न कीजिये, जिसके पेट में बात न पचती हो उसके आगे अपना वा मित्रों का कोई भेद न खोलिये; जिसको अपने लाभ के लिये पराई हानि का विचार न रहता हो उससे सदा दूर रहना उचित है, जिसके पास बैठने में लोकनिन्दा वा ख़ुशामदी कहलाने की शंका हो उसके साथ प्रयोजन से अधिक कुछ सम्बन्ध न रखना चाहिये। जिसका मन बचन और कर्म एक सा हो वह कैसी ही दशा में हो पर है आदरणीय। जो काम आजके करने का है उसे कलके लिये छोड़ देना ठीक नहीं, जो कुछ अपने किये न हो सके वह यदि दूसरे भी न कर सकें तो उन पर हंसना न चाहिये। जो दोष हममें है वही यदि दूसरे में भी हो तो उसकी निन्दा करना अन्याय है, जो पुरुष अपने पुराने सम्बन्धियों से खुटाई कर चुका हो उससे भलाई की आशा करना मूर्खता है, जो बातें बीत गई हैं उनका हर्ष शोक वृथा है, बुद्धिमानों को वर्तमान और भविष्यत पर पूरी दृष्टि रखनी चाहिये। जो कार्य करना हो उसकी रीति और परिणाम पहिले बिचार कर लेना उचित है;

जो अपना कोई भेद न छिपाता हो उससे छल करना महा निषिद्ध है, जो सब की हां में हां मिलाता हो उसे अच्छा समझना समझदारी नहीं, जो किसी स्त्री अथवा बालक पर कठोराचरण करे उसे राक्षस समझना चाहिये, जो धर्म, न्याय, वा पराये, हित का मिस करके अधर्म अन्याय अथवा स्वार्थसाधन करे उसको दूसरे पापी अन्यायी और स्वार्थपरायणों से अधिक तुच्छ जानना उचित है, धन,बल, मान, और समयका छोटेसे छोटा भाग भी व्यर्थ न खोना चाहिये, स्वास्थ्यरक्षा के लिये धन, और गौरवरक्षाके लिये जीवन का मोह करना अनुचित है, प्रबल दुष्ट के हाथ से किसी निरपराधी को बचाने के निमित्त झूठ बोलना या छल करना अयोग्य नहीं है, दूसरों के साथ हमें वैसाही वर्ताव करना चाहिये जैसा हम चाहते हैं कि वे हमसे करें। जब किसी काम से जी उकता जाय तो कुछ कालके लिये उसे छोड़ कर मनबहलाव में संलग्न होना योग्य है, निर्धनों और अनपढों को तुच्छ समझना बड़ी भूल है, उन्हें प्रीतिपूर्वक उनके हित की बातें बतलाते रहना चाहिये, इसमें अपना भी बड़ा काम निकलता है। औषधि और बिद्या कभी किसीसे छिपाना योग्य नहीं है; आपसवालों से बिगाड़ करना सबसे बड़ी मूर्खता है, जिन कामों को अनेक बुद्धिमानों ने बुरा ठहराया है उनका कर डालना इतना बुरा नहीं है जितना उन्हे चित्त में चिरस्थायी करना; अच्छा काम जितना हो सके उतना ही उत्तम है—ऐसी ऐसी बहुत सी बातें हैं जो बिद्या पढ़ने और सत्संग करने से आपही बिदित हो रहेंगी।

इसे हम यहां पर बढ़ाना नहीं चाहते, केवल इतना ही फिर कहेंगे—जान लेने से ठान लेना अत्यावश्यक है, फिर इनका फल आपही थोड़े दिनों में प्रत्यक्ष हो जायगा इससे इन्हें सदा कामों में स्मरण रखना चाहिये, इसके अतिरिक्त जब किसीके घर पर जाने की आवश्यकता हो तो उसके भोजन,शयन और कार्य्य संलग्नता का समय बचाके जाओ, और द्वार के अति सम्मुख खड़े होकर मत पुकारो, एक बार पुकारके कुछ काल ठहर जाओ, इस रीति से दो तीन बार पुकारने पर उत्तर न मिले तो लौट आना उचित है।

यदि घर के भीतर जाने का काम पड़े तो स्त्रियों से बड़े अदब के साथ नीची दृष्टि करके बोलो, तथा ऐसे आसन पर न बैठो जिसपर उस गृह के बड़े बूढ़े लोग बैठते हों। जिसके यहां कुछ निमन्त्रित लोग भोजन अथवा नृत्यादि के लिये

एकत्रित हों उसके यहां बिना बुलाये जाना उचित नहीं है, तथा यदि कोई अपने यहां ऐसे अवसर पर बुलावे तो शयन भोजनादि ऐसी रीति से कर्तव्य है कि, गृहस्वामी को कष्ट न हो, और बातें भी ऐसी करनी चाहिये जो वहां के लोगों को अरुचिकारिणी न हों ; यदि किसीको अपने यहां बुलाओ तो पहिले यह प्रबन्ध करलो कि उसे किसी प्रकार की असुविधा न होने पावे, तथा यदि अपने को कष्ट हो तो उसपर विदित न होने पावे।

जब दूसरे नगर में जाना हो तो आवश्यकता से कुछ अधिक धन, निर्वाहयोग्य कपड़े, और बर्तन, तथा एक छुरी, एक छड़ी, थोड़ी सी लिखने की सामग्री, एवं दो एक मुद्रिकाएं (उंगली में) अवश्य साथ लेना चाहिये ; और जिसके यहां ठहरना हो उसे दो तीन दिन पहिले से समाचार दे देना चाहिये ; रात्रि को उसके यहां जाना ठीक नहीं, दिन को भी स्नान भोजन से निवृत्त हो के जाना उचित है। इस प्रकार का व्यवहार सदैव दृढ़ता के साथ अंगीकार किये रहने का बिचार रक्खोगे तो देखोगे कि दूसरे लोग तुमसे और तुम दूसरों से कितने सुखी एवं संतुष्ट रहते हो, तथा जीवन के बड़े बड़े अथच कठिन से कठिन कर्तव्यों में कितना सहारा मिलता है।

रामलीला

आर्य्य वंश के धर्म कर्म और भक्ति भाव का वह प्रबल प्रवाह, जिसने एक दिन जगत के बड़े बड़े सन्मार्ग विरोधी भूधरों का दर्प दलन कर उन्हे रज में परिणत कर दिया था और इस परम पवित्र वंश का वह विश्वव्यापक प्रकाश जिसने एक समय जगत में अन्धकार का नाम तक न छोड़ा था,—अब कहां है ? इस गूढ़ एवं मर्म्मस्पर्शी प्रश्न का यही उत्तर मिलता है कि 'वह सब भगवान महाकाल के महापेट में समा गया'। निःसंदेह हम भी उक्त प्रश्न का एक यही उत्तर देते हैं कि 'वह सब भगवान् महाकाल के महा पेट में समा गया।'

जो अपनी व्यापकता के कारण प्रसिद्ध था, अब उस प्रवाह का प्रकाश भारतवर्ष में नहीं है, केवल उसका नाम ही अवशिष्ट रह गया है। कालचक्र के बल,

विद्या तेज प्रताप आदि सब का चकनाचूर हो जाने पर भी उनका कुछ कुछ चिह्न वा नाम बना हुआ है, यही डूबते हुए भारतवर्ष का सहारा है और यही अन्ध भारत के हाथ की लकडी है।

जहां महा महा महीधर लुढ़क जाते थे और अगाध अतलस्पर्शी जल था, वहां अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटी सी किन्तु सुशीतल वारिधारा बह रही है, जिससे भारत के विदग्ध जनों के दग्ध हृदय का यथा कथंचित संताप दूर हो रहा है। जहां के महा प्रकाश से दिग्दिगंत उद्भासित हो रहे थे, वहां अब एक अन्धकार से घिरा हुआ स्नेहशून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी कभी भूभाग प्रकाशित हो रहा है। पाठक! ज़रा विचारकर देखिये ऐसी अवस्था में कहां कब तक शान्ति और प्रकाश की सामग्री स्थिर रहेगी? यह किस से छिपा हुआ है कि भारतवर्ष की सुख-शान्ति और भारतवर्ष का प्रकाश अब केवल 'राम नाम' पर अटक रहा है। राम नाम ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय को शान्तिप्रद है और 'राम नाम' ही हमारे अन्धे घर का दीपक है।

यह सत्य है कि जो प्रवाह यहां तक क्षीण हो गया है कि पर्वतों को उथल पुथल कर देने की जगह अपने आप प्रति दिन पाषाणों से दब रहा है, और लोग इस बात को भूलते चले जा रहे हैं कि कभी यहां भी एक प्रवल नद प्रवाहित हो रहा था, तो उसकी आशा परित्याग कर देना चाहिये। जो प्रदीप स्नेह से परिपूर्ण नहीं है तथा जिसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है और प्रतिकूल वायु चल रही है वह कब तक सुरक्षित रहेगा? (परमात्मा न करे) वायु के एक ही झोंके में उसका निर्वाण हो सकता है।

किन्तु हमारा वक्तव्य यह है कि वह प्रवाह भगवती भागीरथी की तरह बढ़ने लगे, तो क्या सामर्थ्य है कि कोई उसे रोक सके? क्योंकि वह प्रवाह कृत्रिम प्रवाह नहीं है, भगवती वसुन्धरा के हृदय का प्रवाह है, जिसे हम स्वाभाविक प्रवाह भी कह सकते हैं।

जिस दीपक को हम निर्वाणप्राय देखते हैं, निःसंदेह उसकी शोचनीय दशा है और उससे अन्धकार-निवृत्ति की आशा करना दुराशा मात्र है, परंतु यदि हमारी उसमें ममता हो और वह फिर हमारे स्नेह से भर दिया जाय तो स्मरण रहे कि वह प्रदीप वही प्रदीप है जो पहले समय में हमारे स्नेह ममता, और भक्ति भाव का

प्रदीप था। उसमें ब्रह्माड को भस्मीभूत कर देने की शक्ति थी। यह वही ज्योति है जिसका प्रकाश सूर्य में विद्यमान है एवं जिसका दूसरा नाम अग्निदेव है।

वह प्रदीप भगवान रामचंद्र के पवित्र नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यद्यपि राम नाम की क्षुद्र प्रदीप के साथ तुलना करना अनुचित है, परन्तु यह नाम का दोष नहीं है हमारे क्षुद्र भाग्य की क्षुद्रता का दोष है कि उनका भक्तिभाव अब हममें ऐसा ही रह गया है।

कभी हम लोग भी सुख से दिन बिता रहे थे, कभी हम भी भूमंडल पर विद्वान् और वीर शब्द से पुकारे जाते थे, कभी हमारी कीर्ति भी दिग्दिगंतव्यापिनी थी, कभी हमारे जयजयकार से भी आकाश गूंजता था और कभी बड़े बड़े सम्राट हमारे कृपाकटाक्ष की भी प्रत्याशा करते थे---इस बात का स्मरण करना भी अब हमारे लिए अशुभचिंतक हो रहा है। पर कोई माने या न माने यहां पर खुले शब्दों में यह कहे बिना हमारी आत्मा नहीं मानती कि अवश्य हम एक दिन इस सुख के अधिकारी थे। हम लोगों में भी एक दिन स्वदेश भक्त उत्पन्न होते थे, हममें सौभ्रात्र और सौहार्द का अभाव न था, गुरुभक्ति और पितृ-भक्ति हमारा नित्य कर्म था, शिष्ट-पालन और दुष्ट-दमन ही हमारा कर्त्तव्य था। अधिक क्या कहें---कभी हम भी ऐसे थे कि जगत का लोभ हमें अपने कर्त्तव्य से नहीं हटा सकता था। पर अब वह बात नहीं है और न उसका कोई प्रमाण ही है!

हमारे दूरदर्शी महर्षि भारत के मंद भाग्य को पहले ही अपनी दिव्य दृष्टि से देख चुके थे कि एक दिन ऐसा आवेगा कि न कोई वेद पढ़ेगा न वेदांग, न कोई इतिहास का अनुसन्धान करेगा और न कोई पुराण ही सुनेगा। सब अपनी क्षमता को भूल जायंगे। देश आत्मज्ञान-शून्य हो जायगा। इसलिए उन्होंने अपने बुद्धि कौशल से हमारे जीवन के साथ 'राम' नाम का दृढ़ सम्बन्ध किया था। यह उन्हीं महर्षियों की कृपा का फल है कि जो देश अपनी शक्ति को, तेज को, बल को, प्रताप को, बुद्धि को और धर्म्म को अधिक क्या---जो अपने स्वरूप तक को भूल रहा है, वह इस शोचनीय दशा में भी राम नाम को नहीं भूला है। और जब तक 'राम' स्मरण है, तब तक हम भूलने पर भी कुछ भूले नहीं हैं।

महाराज दशरथ का पुत्रस्नेह, श्रीरामचंद्र जी की पितृभक्ति, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की भ्रातृभक्ति, भरतजी का स्वार्थत्याग, वशिष्ठजी का प्रताप, विश्वामित्र

का आदर, ऋष्यश्रृंग का तप, जानकीजी का पातिव्रत, हनुमानजी की सेवा, विभीषण की शरणागति और रघुनाथजी का कठोर कर्त्तव्य किसको स्मरण नहीं है। जो अपने "रामचंद्र को जानता है वह अयोध्या, मिथिला को कब भूला हुआ है ? वह राक्षसों के अत्याचार, ऋषियों के तपोबल और क्षत्रियों के धनुर्बाण के फल को अच्छी तरह जानता है। उसको जब राम नाम का स्मरण होता है और जब वह 'रामलीला' देखता है तभी यह ध्यान उसके जी में आता है कि 'रावण आदि की तरह चलना न चाहिए रामादिक के समान प्रवृत्त होना चाहिए'।

बस इसी शिक्षा को लक्ष्य कर हमारे समाज में 'रामनाम' का आदर बढ़ा। ऐसा पावन और शिक्षाप्रद चरित्र न किसी दूसरे अवतार का और न किसी मनुष्य का ही है। भगवान् रामचंद्र देव को हम मर्त्यलोक का राजा नहीं समझते, अखिल ब्रह्मांड का नायक समझते हैं। यों तो आदरणीय रघुवंश में सभी पुण्यश्लोक महाराज हुए, पर हमारे महाप्रभु 'राम' के समान सर्वत्र रमणशील अन्य कौन हो सकता है ? मनुष्य कैसा ही पुरुषोत्तम क्यों न हो वह अंत को मनुष्य है। इस-लिए आर्य्यवंश में राम ही का जयजयकार हुआ और है और जब तक एक भी हिन्दू पृथ्वीतल पर रहेगा होता रहेगा। हमारे आलाप में, व्यवहार में, जीवन में, मरण में, सर्वत्र 'राम नाम' का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को दृढ़ रखने के लिए ही प्रतिवर्ष रामलीला होती है। मान लीजिये कि वह सभ्यताभिमानी नवशिक्षितों के नज़दीक खिलवाड़ है वाहियात और पोप लीला है, पर क्या भावुक जन भी उसे ऐसा ही समझते हैं ? कदापि नहीं। भगवान् की भक्ति न सही—जिसके हृदय में कुछ भी जातीय गौरव होगा, कुछ भी स्वदेश की ममता होगी वह क्या इस बात को देखकर प्रफुल्लित न होगा कि पर-पददलित आर्य्य-समाज में इस गिरी हुई दशा के दिनों में भी कौशल्यानन्दन आनन्दवर्द्धन भगवान् रामचंद्र जी का विजयोत्सव मनाया जा रहा है। आठ सौ वर्ष तक हिन्दूओं के सिर पर कृपाण चलती रही परंतु 'रामचंद्र जी की जय' तब भी बन्द नहीं हुई।

एक वे विद्वान् हैं जो राम और रामायण की प्रशंसा करते हैं, रामचरित्र को अनुकरणयोग्य समझते हैं एवं रामचंद्र जी को भुक्ति मुक्तिदाता मान रहे हैं, और एक वे लोग हैं जिनकी युक्तियों का बल केवल एक इसी बात में लग रहा है कि "रामायण में जो चरित्र वर्णित हैं वे सचमुच किसी व्यक्ति के नहीं हैं किन्तु केवल

किसी घटना और अवस्थाविशेष का रूपक बांध के लिख दिये गये हैं।" निरंकुशता और धृष्टता आज कल ऐसी बढ़ी है कि अनर्गलता से ऐसी मिथ्या बातों का प्रचार किया जाता है। इस भ्रांत मत के प्रचार करनेवाले वेबर साहब यदि यहां होते तो हम उन्हें दिखाते कि जिसका वे अपनी विषदग्धा लेखनी से जर्मनी में बध कर रहे हैं, वह भारतवर्ष में व्यापक और अमर हो रहा है। यहां हम अपनी ओर से कुछ न कहकर हिन्दी के प्रातःस्मरणीय सुलेखक पंडित प्रतापनारायण मिश्र के लेख को उद्धृत करते हैं--

"आहा यह दोनों अक्षर भी हमारे साथ कैसा सार्वभौमिक सम्बन्ध रखते हैं कि जिसका वर्णन करने की सामर्थ्य ही किसी में नहीं है। जो रमण करता हो अथवा जिसमें रमण किया जाय उसे राम कहते हैं ये दोनों अर्थ राम नाम में पाये जाते हैं। हमारे भारतवर्ष में सदा सर्वदा रामजी रमण करते हैं और भारत राम में रमण करता है। इस बात का प्रमाण कहीं ढूंढ़ने नहीं जाना, आकाश में रामधनुष (इंद्रधनुष) धरती पर रामगढ़, रामपुर, राजनगर, रामगंज, रामरज, रामगंगा, रामगिरि (दक्षिण में), खाद्य पदार्थों में रामदाना, रामकीला (सीताफल), रामतरोई, रामचक्र, चिड़ियों में रामपाखी (बंगाल में मुरगी), छोटे जीवों में रामबरी (मेंढकी), व्यंजनों में रामरंगी (एक प्रकार के मुंगौढ़े) तथा जहांगीर ने मदिरा का भी नाम रामरंगी रखा था 'कि रामरंगिए मा नश्शाए दीगर दारद'; कपडों में रामनामी इत्यादि नाम सुन के कौन न मान लेगा कि जल स्थल, भूमि आकाश, पेड़ पत्ता, कपड़ा लत्ता, खान पान सब में राम ही रम रहे हैं।

मनुष्यों में रामलाल, रामचरण, रामदयाल, रामदत्त, रामसेवक, रामनाथ, रामनारायण, रामदास, रामदीन, रामप्रसाद, रामगुलाम, रामबकस, रामनेवाज, स्त्रियों में भी रामदेई, रामकिशोरी, रामपियारी, रामकुमारी इत्यादि कहां तक कहिए जिधर देखो उधर राम ही राम दिखाई देते हैं, जिधर सुनिए राम ही नाम सुन पड़ता है। व्यवहारों में देखिये लड़का पैदा होने पर रामजन्म के गीत, जनेऊ, ब्याह, मुंडन, छेदन में राम ही का चरित्र, आपस के शिष्टाचार में 'राम राम', दुःख में 'हाय राम', आश्चर्य अथवा दया में 'अरे राम'; महा प्रयोजनीय पदार्थों में भी इसी नाम का मेल, लक्ष्मी (रुपया पैसा) का नाम रमा, स्त्री का विशेषण रामा (रामयति), मदिरा का नाम रम (पीते ही नस नस में रम जाने-

वाली) यही नहीं मरने पर भी 'राम नाम सत्य है', उसके पीछे भी गयाजी में राम-शिला पर श्राद्ध ! इस सर्वव्यापकता का क्या कारण है ? यही कि हम अपने देश को ब्रह्ममय समझते थे। कोई बात कोई काम ऐसा न करते थे जिसमें सर्वव्यापी सब स्थान में रमण करनेवाले को भूल जायं। अथच रामभक्त भी इतने थे कि श्रीमान् कौशल्यानन्दवर्धन जानकीजीवन, अखिलार्य-नरेन्द्र-निषेवित-पाद-पद्म, महाराजाधिराज मायामानुष भगवान् रामचंद्र जी को साक्षात् परब्रह्म मानते थे ! इस बात का वर्णन तो फिर कभी करेंगे कि जो हमारे दशरथ राजकुमार को परब्रह्म नहीं मानते वे निश्चय धोखा खाते हैं, पर यहां पर इतना कहे बिना हमारी आत्मा नहीं मानती कि हमारे आर्य्यवंश को राम इतने प्यारे हैं कि परम प्रेम का आधार राम ही को कह सकते हैं, इसका कारण यही है कि राम के रूप गुण स्वभाव में कोई बात ऐसी नहीं है कि जिसके द्वारा सहृदयों के हृदय में प्रेम भक्ति सहृदयता अनुराग का महासागर न उमड़ उठता हो ! आज हमारे यहां की सुख सामग्री सब नष्टप्राय हो रही है, सहस्रों वर्ष से हम दिन दिन दीन होते चले आते हैं पर तो भी राम से हमारा सम्बन्ध बना है। उनके पूर्व पुरुषों को राजधानी अयोध्या को देख के हमें रोना आता है। जो एक दिन भारत के नगरों का शिरोमणि था, हाय ! आज वह फैज़ाबाद के जिले में एक गांव मात्र रह गया है। जहां एक से एक धीर धार्म्मिक महाराज राज्य करते थे वहां आज बैरागी तथा थोड़े से दीन दशा दलित हिन्दू रह गए हैं।

जो लोग प्रतिमापूजन के द्वेषी हैं परमेश्वर न करे यदि कहीं उनकी चले तो फिर अयोध्या में रहो क्या जायगा ? थोड़े से मंदिर ही तो हमारी प्यारी अयोध्या के सूखे हाड़ है। पर हां, रामचंद्र की विश्वव्यापिनी कीर्त्ति जिस समय हमारे कानों में पड़ती है उसी समय हमारा मरा हुआ मन जी उठता है। हमारे इतिहास को हमारे दुर्दैव ने नाश कर दिया। यदि हम बड़ा भारी परिश्रम करके अपने पूर्वजनों का सुयश एकत्र किया चाहें तो बड़ी मुद्दत में थोड़ी सी कार्यसिद्धि होगी, पर भगवान रामचंद्र का अविकल चरित्र आज भी हमारे पास है जो औरों के चरित्र (जो बचे बचाये मिलते हैं वा कदाचित् दैवयोग से मिलें) से सर्वोपरिश्रेष्ठ महारस पूर्ण परम सुहावन है, जिसके द्वारा हम जान सकते हैं कि कभी हम भी कुछ थे अथच यदि कुछ हुआ चाहें तो हो सकते हैं। हममें कुछ भी लक्षण हों तो

हमारे राम हमें अपना लेंगे, बानरों तक को तो उन्होंने अपना मित्र बना लिया हम मनुष्यों को क्या भृत्य भी न बनावेंगे ? यदि हम अपने को सुधारा चाहें तो अकेली रामायण से सब प्रकार के सुधार का मार्ग पा सकते हैं। हमारे कविवर वाल्मीकि ने रामचरित्र में कोई उत्तम बात न छोडी एवं भाषा भी इतनी सरल रखी है कि थोड़ी सी संस्कृत जाननेवाले भी समझ सकते हैं, यदि इतना श्रम भी न हो सके तो भगवान तुलसीदास की मनोहारिणी कविता थोड़ी सी हिन्दी जानने-वाले भी समझ सकते हैं, सुधा के समान काव्यानन्द पा सकते हैं और अपना तथा देश का सर्व प्रकार हित साधन कर सकते हैं। केवल मन लगा के पढ़ना और प्रत्येक चौपाई का आशय समझना तथा उसके अनुकूल चलने का विचार रखना होगा। रामायण में किसी सदुपदेश का अभाव नहीं है। यदि विचार शक्ति से पूछिए कि रामायण की इतनी उत्तमता, उपकारकता, सरसता का कारण क्या है ? तो यही उत्तर पाइएगा कि उसके कवि ही आश्चर्य्यमयी शक्ति से पूर्ण हैं, फिर उनके काव्य का क्या कहना ? पर यह बात भी अनुभवशाली पुरुषों की बताई हुई है कि इन सिद्ध कवीश्वरों का मन कभी साधारण विषयों पर नहीं दौड़ता। इसी से यह तो स्वयं सिद्ध है कि रामचरित्र वास्तव में ऐसा ही है कि उसपर बड़े बड़े कवीश्वरों ने श्रद्धा की है, और अपनी पूरी कविता शक्ति उस पर निछांवर करके हमारे लिए ऐसे ऐसे अमूल्य रत्न छोड़े हैं कि हम इन गिरे दिनों में भी उनके कारण सच्चा अभिमान कर सकते हैं, इस हीन दशा में भी काव्यानन्द के द्वारा परमानन्द पा सकते हैं, और यदि चाहें तो संसार परमार्थ दोनों बना सकते हैं। खेद है, यदि हम भारत संतान कहाकर इन अपने घर के अमूल्य रत्नों का आदर न करें ! और जिसके द्वारा हमें यह महामणि प्राप्त हुई हैं उनका उपकार न मानें तथा ऐसे राम को जिनके नाम पर हमारे पूर्वजों के प्रेम, प्रतिष्ठा , गौरव एवं मनो-विनोद की नींव थी, अथच हमारे लिए गिरी दशा में भी जो सच्चे अहंकार का कारण है और जिससे आगे के लिए सब प्रकार के सुधार की आशा है, भूल जायं ! अथवा किसी के बहकाने से राम नाम की प्रतिष्ठा करना छोड़ दें तो कैसी कृतघ्नता, मूर्खता एवं आत्महिंसकता है। पाठक ! यदि सब भांति की भलाई और बड़ाई चाहो तो सदा सब ठौर सब दशा में राम का ध्यान रखो, राम को भजो, राम के चरित्र पढ़ो, सुनो, राम की लीला देखो दिखाओ, राम का अनुकरण करो, बस

इसी में तुम्हारे लिए सब कुछ है। इस 'रकार' और 'मकार' का वर्णन तो कोई त्रिकाल में कहीं नहीं सकता। कोटि जन्म गावें तो भी पार न पावेंगे।"

ऋद्धि और सिद्धि

अर्थ या धन अलाउद्दीनका चिराग है। यदि यह हाथमें है, तो तुम जो चाहो सो पा सकते हो। यदि अर्थके अधिपति हो तो बज्रमूर्ख होने पर भी विश्वविद्यालय तुम्हें डी. एल. की उपाधि देकर अपने तंई धन्य समझेगा। तुम्हारी रचनामें व्याकरणकी चाहे जितनी अशुद्धियां होंगी, साहित्यिक लोग उसे इस समयका आर्ष-प्रयोग या आदर्श लेख कहकर मान लेंगे। तुम अकलके रासभ या बुद्धिके बैल हो, तो भी अर्थके माहात्म्यसे लोग तुमको विचक्षण-बुद्धि-सम्पन्न या प्रतिभाका अवतार कहकर आदर करेंगे। लक्ष्मीकी कृपासे तुम्हारे गौरवकी सीमा नहीं रहेगी। तुम्हारे चारों और अनेक ग्रह उपग्रह आजुटेंगे, और तुमको केन्द्र बनाकर एक नया 'सौर जगत्' रच डालेंगे तथा तुम उनके बीचमें मार्त्तण्ड रूप होकर विराजोगे। विश्वविद्वेषी खुशामदी तुमको घेरे हुए तुम्हारे सुरमें सुर मिलावेंगे और जहां संयोगसे तुमने जम्हाई ली कि चुटकियों का तार बांध देंगे। तुम्हारे धूर्त्त आत्मीय स्वजन तुमको पग पग पर ठगा करेंगे। क्यों कि इसके वे अधिकारी हैं। धोखेबाज़ तुम्हारे कृती पुत्रको उल्लू बनाकर उससे अनेक हैण्डनोट कटाया करेंगे। तुम्हारे अविद्या-मन्दिरमें बडी धूमधामसे बन्दरका ब्याह और भूतोंके बापका श्राद्ध होगा। क्योंकि रुपया रहनेसे ही यह सब होता है, उसके नहीं रहनेसे अपने बापका भी श्राद्ध नहीं होता।

बरहे पर चलनेवाला नट हाथमें बांस लिये हुए बरहेपर दौड़नेके समय "हाय पैसा—हाय पैसा" करके चिल्लाया करता है। दुनियाके सभी आदमी वैसे ही नट हैं। सब अपने अपने रस्से पर—"हाय पैसा—हाय पैसा" करते हुए चले आ रहे हैं। मैं दिव्यदृष्टिसे देखता हूं कि खुद पृथ्वी भी अपने रास्ते पर "हाय पैसा—हाय पैसा" करती हुई सूर्य्यकी परिक्रमा कर रही है। अभी ज्योतिर्विद

लोग इस सिद्धान्त पर नहीं पहुंच सके हैं। क्योंकि अर्थका खिचाव ही विश्व-ब्रह्माण्डका मध्याकर्षण है, उनको यह समझनेमें अभी देर है। विज्ञानाचार्य्य सर जगदीशचन्द्र वसुने साबित किया है कि धातुओंमें प्राण है—वे सब भी जीती हैं। बस उनकी बुद्धि-गवेषणाकी दौड़ यहीं तक है। पर मेरी गवेषणासे यह पक्का सिद्धान्त हो चुका है कि तांबा, सोना चांदीमें केवल जीवनी-शक्ति ही नहीं, उनमें ऐसी अद्भुत शक्ति है कि जिसके बलसे वे सब विश्वब्रह्माण्डको चरखी पर नचा रहे हैं।

कालमाहात्म्य और दिनोंके फेरसे ऐश्वर्य्यशाली भगवानने तो अब स्वर्गसे उतरकर दरिद्रके घर शरण लिया है और उनके सिंहासन पर अर्थ जा बैठा है। इसीसे अब सबके मुंहसे अकेले अर्थकी ही अपार महिमा सुनी जाती है। अतएव समझना चाहिये कि अर्थ ही इस युगका परब्रह्म है। इस ब्रह्मके बिना विश्व-संसारका अस्तित्व नहीं रह सकता, सब निरर्थक हो जाता है। यही चक्राकार चैतन्यरूप कैशबक्समें प्रवेश करके संसारको चलाया करता है। यही ब्रह्म-पदार्थ व्यक्त और अव्यक्तरूपसे सृष्टि स्थिति प्रलयका कारणस्वरूप है। जगतका आधुनिक इतिहास सहस्रमुख होकर इसीकी महिमा गाता है। साधकोंके हितके लिये अर्थनीतिशास्त्रमें इसकी उपासनाकी विधि लिखी गयी है। जगतके सब जीव और सब जातियां ज्ञानयोग, कर्म्मयोग और भक्तियोग द्वारा इस ब्रह्मवस्तुकी साधना करके सिद्धिलाभ करनेकी चेष्टा करते हैं।

यहां कुछ योगशास्त्रकी बात आ पड़ी। बच्चोंकी पहली पोथीमें लिखा है—"बिना पूछे दूसरेका माल लेना चोरी कहलाता है।" लेकिन कहकर ज़ोरसे दूसरेका धन हड़प लेना क्या कहलाता है, यह उसमें नहीं लिखा। मेरी रायमें यही कर्म्मयोगका मार्ग है। इसी मार्ग पर चलकर जगतकी प्रधान शक्तियां या जातियां मेग्ज़ीन और सीज़-गनकी सहायतासे दूसरोंके राज्यको अपना राज्य बनाकर अटूट यश और चरम सिद्धि लाभ करती हैं। जिस योगायोगसे परस्वको निजस्व बनाया जा सकता है वही कर्म्मयोग है। कर्म्मयोगकी जड़में कुछ ज्ञान-योग रहना भी ज़रूरी है। पराये धनको अपना अर्थ और पराये राज्यको स्वराज्य समझना, इसी अभेदज्ञानसे परार्थ पर अधिकार जमता है और इसी ज्ञानयोगसे होते होते कर्म्मयोगकी सूचना होती है। सीधे टेढ़ेके भेदसे कर्म्मयोगके कई रास्ते

हैं। कर्म्मी साधकगण अपनी अपनी मेधा और बुद्धिसे ये सब रास्ते निकालते और उनको साफ कर लेते हैं। कर्म्मसिद्धि पर ही इन सब रास्तोंका उत्कर्षा-पकर्ष स्थिर होता है। जैसे कोई कर्म्मयोगी रातको सेंध देकर दूसरेके घरमें घुस गया और माल मारकर बेखटके चलता बना। उसकी देखादेखी एक दूसरा साधक उसी रास्ते पर जाकर पकड़ा गया और श्रीघर भेजा गया। वह एक आदमीके लिये जो कर्म्मयोग है दूसरेके नसीबमें वही विशुद्ध कर्म्मभोग है। देशके कर्म्मक्षेत्रमें भी देखा जाता है कि एक आदमी स्वदेशी कर्म्मीसमाचारपत्रका सम्पादक या बड़ा वकील अथवा बैरिस्टर होकर लखपती और आनरेबल हुआ और अच्छी तरह ऋद्धि सिद्धि लाभ करके उसने तिजारत शुरू कर दी। किन्तु उसकी देखादेखी दूसरा आदमी कर्म्मी या अकर्म्मी सिडीशनके चार्जमें पड़कर बांधा गया। उसका छापखाना जब्त हुआ और उसका घर खंडहर हो गया—उसपर उरुआ बोलने लगा। इसीको एक ही कामका भिन्न भिन्न फल कहते हैं। इससे यह साबित हुआ कि एक ही रास्ता सबके लिये ठीक नहीं है।

निरामिष वैष्णव मतसे भी अर्थकी साधना हो सकती है। लाला दयालचन्द इसी पथ पर चलते हैं। वे परोपकारके लिये गरीब दुखियोंको रुपये पीछे एक आना महिना सूद पर रुपया देकर सहायता करते हैं। और बहादुरी यह कि सूदके लिये ऋणीको बहुत दुःख नहीं देते। वह अगर बीच बीचमें सूदके साथ मूलधन जोड़कर पूरी जमाका हैंडनोट लिखता हुआ नया कागज करता चला जाय तो उसीसे प्रसन्न रहते हैं। वे कहते हैं—

"इस क्षुद्र रुपयेके लिये किसीको दिक क्यों करना? हां अगर सूदका भाग असलसे चौगुना होकर कम्बल भारी हो जाय तो अदालतमें नालिश करके उस ऋणी बेचारेका उद्धार कर देना चाहिये। क्योंकि किसीको सदा ऋणी रखनेसे धनीको पाप लगता है।"

लालाजी भक्त साधक हैं। यदि कोई कर्जदार आकर पांव पकड़कर रोता है, तो उसके साथ वे भी री उठते और कहते हैं—"मैं क्या कर सकता हूं। धन तो मेरा है नहीं, न उसमें कुछ रूरिआयत करनेका मेरा अधिकार है।" लालाजीकी आंखोंमें इतना पानी, एक नयी वस्तु है। क्योंकि जिसके धन होता है उसकी आंखोंमें पानी नहीं रहता। अर्थ बड़ी गरम चीज है। उसकी गरमीसे शरीरका

सब रस सूख जाता है, हृदय सूखकर पत्थर हो जाता है, ओठों परकी हंसी सूख कर सूखी हंसी बन जाती है, ललाटके चमड़ेके सूख जानेसे उसमें नाराजीकी रेखायें दिखाई देने लगती हैं, त्योरी सदा चढ़ी ही रहती है। मन महा गरम होकर देहको दग्ध करता है, इस कारण मुंहसे जो बातें निकलती हैं, उनसे भी चिनगारियां ही झड़ती हैं। केवल 'सिलवर टानिक' ही से जिन्दगी टिकी रहती है। जिन लोगोंके मनमें यह सवाल उठे कि ऐसी दशामें लालाजीकी आंखोंमें पानी कहांसे आता है? उसका जवाब लालाजीने ही दे दिया है कि अर्थ उनका नहीं है। वे तो कुबेरके खजान्ची भर हैं। मालिकका धन वे छूते नहीं, इसीसे उनको भीतरसे वह गर्मी नहीं व्याप सकती। अर्थ उनका नहीं है, यह बात ज़रूर मान लेने योग्य है। क्योंकि बहुतोंको यह बात मालुम है कि लालाजी लोहेकी संदूकको हैण्डनोट लिखकर तो उससे उधार लेते हैं और सूदसहित असलका हिसाब करके फिर उसमें भरपाई करते हैं।

मनुष्य-समाजमें ऐसे भी लोग देखे जाते हैं जो 'तहवील तसर्रुफ' करनेमें सिद्धहस्त हैं। खुदाके यहांसे जितने मनीआर्डर उनको आते हैं, वह सब खर्च कर डालते हैं। ये लोग एक बार भी नहीं सोचते कि खुदाके इजलासमें जब पहुंचेंगे और इनपर एम्ब्रेज़लमेन्टका चार्ज आवेगा तब बच्चाजी क्या जवाब देंगे?

रुपयेकी कदर न करनेवाले एक और दरजेके लोग हैं। धनसे उनका सदाका विरोध है। यहां तक कि न धन उनका मुंह देखता है, न वे धनका मुंह देखते हैं। उनका कहना है कि पेटमें अन्न पड़नेसे ही नींद आती है। जबतक पेट खाली है, कभी नींद नहीं आती। इस कारण जितनी ही अन्न-चिन्ता बढ़ती है उतनी ही आदमीकी बुद्धि हज़ार ओर चक्कर खाती है, कर्म्मचेष्टा सैकड़ों मुखसे सैकड़ों और दौड़ पड़ती है, दीन दरिद्रोंकी ओर हमदर्दी जाग उठती है और भगवानसे नाता जुड़ जाता है। इस कारण इन लोगोंकी रायसे तो देशमें जितना ही अकाल पड़े उतना ही लोक परलोक सर्वत्र कल्याण होता है। मैं तो इन नासमझोंको पागल-खानेमें भेज देनेकी सलाह देता हूं। ये यदि खुले रहेंगे तो जोशमें आकर बड़ा गोलमाल करेंगे। इस दलके बारह आदमियोंने उन्निसमौ वर्ष पहले जेरूसलेममें

ईशूख्रीष्टके दलमें मिलकर और ज़िद्दमें पागल होकर एक विश्वव्यापी गड़बड़ खड़ी कर दी थी। इन्हीं अभागोंने सन् १७८९ ई० में फ्रांसदेशका तहोबाला कर दिया था।

लेकिन अर्थ सबके लिये कामनाकी वस्तु है। किन्तु अर्थ है क्या चीज, यह कोई नहीं समझता। मैंने दिव्य-गवेषणा द्वारा अद्वैतवादकी सहायतासे अर्थका असल रूप जान लिया है। चराचर विश्वसंसारमें अगर कोई एक पदार्थ है तो वह अर्थ है। अर्थके सिवाय यहां और किसीका अस्तित्व ही नहीं है। अगर तुम अपनेको कृती कहते हो—तुम्हारा कृतित्व है, तो अपना कैश-बक्स खोलकर दिखाओ। अगर उसमें अर्थ है तो मैं समझूंगा कि तुममें कृतित्व है। नहीं तो जगतमें तुम्हारे समान अकृती दूसरा नहीं है। अगर तुम अपने स्त्री-प्रेमकी बड़ाई करते हो, तो मैं उसके गहनेकी पेटारी खोलकर देखना चाहता हूं। उसमें तुम्हारा अर्थ रूप बदलकर सोनेके स्वरूपमें विराजमान है या नहीं। अगर नहीं है तो मैं समझ लूंगा कि तुम्हारे स्त्री-प्रेमका भी अस्तित्व नहीं है। अगर कहो कि तुममें बुद्धि है, तो तुम्हारी खाली तहवील दुनियाके सामने तुम्हें झूठा साबित करेगी। जाति कुल मानकी तरह बुद्धि भी इन दिनों लोहेके सन्दूकमें रहती है, मस्तिष्कमें नहीं। यदि तुम्हारे पास धन है तो तुममें मनुष्यत्व हो सकता है। दरिद्रके मनुष्यत्व है, यह बात दुनियामें कोई विश्वास नहीं करता। जिसकी कौड़ीकी औकात नहीं उसको कौन आदमी मानेगा ? यदि रूपकी बात कहो तो वह तो खाली अर्थ ही अर्थ है ! धनीका अन्धा लड़का भी चश्मरोशन कहलाता है। यदि शारीरिक शक्तिकी बात कहो, तो वह तो अर्थ ही का रूपान्तर है। रुपया नहीं रहनेसे सब मेंओं मेंओं करते हैं। अगर तुम कहो कि तुममें भलमनसाहत है, तुम भले आदमी हो, तो मैं तुम्हारी जेब टटोलकर कह दूंगा कि तुम ठीक कहते हो या नहीं। धन रहनेसे ही आदमी भला आदमी होता है और उसीके बिना वह छोटा और बुरा आदमी कहलाता है। सभ्य जगतमें अब यही मत सर्ववादिसम्मत है—अब इसी मतको सब मानते हैं। 'अलमतिविस्तरेण'। अतएव साबित हुआ कि अर्थके सिवाय और किसीका अस्तित्व नहीं है। कमसमझ द्वैतवादी कह सकते हैं कि अर्थ और भगवान् दोनों हैं। पर मैं तो अद्वैतवाद लेकर दुनियामें उतरा हूं। इस कारण मैं दोनोंका अस्तित्व नहीं मानूंगा। कहूंगा कि अर्थ

ही है, भगवान् नहीं हैं। यह मेरा अकेलेका मत नहीं है। जगतमें जितने समृद्धि-शाली बड़े आदमी हैं, सब मेरी ही रायका कार्य्यतः समर्थन करेंगे।

एक दुराशा

नारङ्गीके रसमें जाफरानी बसन्ती बूटी छानकर शिवशम्भु शर्म्मा खटियापर पड़े मौजोंका आनन्द ले रहे थे। ख़याली घोड़ेकी बागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकन्दें भर रहा था। हाथ पांवोंको भी स्वाधीनता दे दी गयी थी। वह खटियाके तल-अरज़की सीमा उल्लंघन करके इधर उधर निकल गये थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्म्माजीका शरीर खटियापर था और खयाल दूसरी दुनियामें।

अचानक एक सुरीली गानेकी आवाजने चौंका दिया। रसिया शिवशम्भु खटियापर उठ बठे। कान लगाकर सुनने लगे। कानोंमें यह मधुर गीत बार बार अमृत ढालने लगा—

"चलो चलो आज खेलें होरी, कन्हैया घर।"

कमरेसे निकल कर बरामदेमें खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ोसमें किसी अमीरके यहां गाने की महफिल जमी है। कोई सुरीली लयसे उक्त होली गा रहा है। साथ ही देखा बादल घिरे हुए हैं बिजली चमक रही है रिमझिम झड़ी लगी हुई है। वसन्तमें सावन देख कर अकल ज़रा चक्करमें पड़ी। विचारने लगे कि गानेवालेको मलार गाना चाहिये था न कि होली। साथ ही खयाल आया कि फागुन सुदी है वसन्तके विकासका समय है वह होली क्यों न गावे? इसमें तो गानेवालेकी नहीं विधिकी भूल है जिसने वसन्तमें सावन बना दिया है। कहां तो चांदनी छिटकी होती निर्म्मल वायु बहती कोयलकी कूक सुनाई देती। कहां भादोंकी सी अंधियारी है वर्षाकी झड़ी लगी हुई है! ओह! कैसा ऋतुविपर्यय है!

इस विचारको छोड़ कर गीतके अर्थका विचार जीमें आया। होली खिलैया कहते हैं कि चलो आज कन्हैयाके घर होली खेलेंगे। कन्हैया कौन? ब्रजका राजकुमार और खेलनेवाले कौन? उनकी प्रजा ग्वालबाल। इस विचारने

शिवशम्भु शर्म्माको और भी चौंका दिया कि ऐं क्या भारतमें ऐसा समय भी था जब प्रजाके लोग राजाके घर जाकर होली खेलते थे और राजा प्रजा मिलकर आनन्द मनाते थे ? क्या इसी भारतमें राजा लोग प्रजाके आनन्दको किसी समय अपना आनन्द समझते थे ? अच्छा यदि आज शिवशम्भु शर्म्मा अपने मित्रवर्ग सहित अबीर गुलालकी झोलियां भरे रङ्गकी पिचकारियां लिये अपने राजाके घर होली खेलने जाये तों कहां जाये ? राजा दूर सात समुद्र पार है। राजाका केवल नाम सुना है। न राजाको शिवशम्भुने देखा न राजाने शिवशम्भुको। खैर, राजा नहीं तो उसने अपना प्रतिनिधि तो भारतमें भेजा है। कृष्ण द्वारिकाहीमें हैं पर उद्धवको प्रतिनिधि बनाकर ब्रजवासियोंको सन्तोष देनेके लिये ब्रजमें भेजा है। क्या उस राजप्रतिनिधिके घर जाकर शिवशम्भु होली नहीं खेल सकता ?

ओफ् ! यह विचार वैसा ही बेतुका है जैसे अभी वर्षामें होली गाई जाती थी ! पर इसमें गानेवालेका क्या दोष है ? वह तो समय समझकर ही गा रहा था। यदि वसन्तमें वर्षाकी झड़ी लगे तो गानेवालेको क्या मलार गाना चाहिये ? सचमुच बड़ी कठिन समस्या है। कृष्ण हैं उद्धव हैं पर ब्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। राजा हैं, राजप्रतिनिधि हैं, पर प्रजाकी उनतक रसाई नहीं ! सूर्य्य है धूप नहीं। चन्द्र है चांदनी नहीं। माइ लार्ड नगरहीमें हैं पर शिवशम्भु उनके द्वारतक नहीं फटक सकता है, उनके घर चलकर होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माइ लार्डके घरतक प्रजाकी बात नहीं पहुंच सकती। बातकी हवा नहीं पहुंच सकती। जहांगीरकी भांति उन्होंने अपने शयनागारतक ऐसा कोई घण्टा नहीं लगाया जिसकी जञ्जीर बाहरसे हिलाकर प्रजा अपनी फरयाद उन्हें सुना सके। न आगेको लगानेकी आशा है। प्रजाकी बोली वह नहीं समझते, उनकी बोली प्रजा नहीं समझती। प्रजाके मनका भाव वह न समझते हैं न समझना चाहते हैं। उनके मनका भाव न प्रजा समझ सकती है न समझनेका कोई उपाय है। उनका दर्शन दुर्लभ है।

सुनते हैं कि कलकत्तेमें श्रीमान्ने कोना कोना देख डाला। भारतमें क्या भीतर और क्या सीमाओंपर कोई जगह देखे बिना नहीं छोड़ी।

सारे भारतकी बात जाय, इस कलकत्तेहीमें देखनेकी इतनी बातें हैं कि केवल उनको भलीभांति देख लेनेसे भारतवर्षकी बहुतसी बातोंका ज्ञान हो सकता है।

यदि किसी दिन शिवशम्भु शर्म्माके साथ माइलार्ड नगरकी दशा देखने चलते तो वह देखते कि इस महानगरकी लाखों प्रजा भेड़ों और सूअरोंकी भांति सड़े गंदे झोंपड़ोंमें पड़ी लोटती है। उनके आसपास सड़ी बदबू और मैले सड़े पानीके नाले बहते हैं। कीचड़ और कूड़ेके ढेर चारों ओर लगे हुए हैं। उनके शरीरों-पर मैले कुचैले फटे चिथड़े लिपटे हुए हैं। उनमेंसे बहुतोंको आजीवन पेटभर अन्न और शरीर ढाकनेको कपड़ा नहीं मिलता। जाड़ोंमें सर्दीसे अकड़ कर रह जाते हैं और गर्मीमें सड़कोंपर घूमते तथा जहां तहां पड़ते फिरते हैं। बरसातमें सड़े सीले घरोंमें भीगे पड़े रहते हैं। सारांश यह कि हरेक ऋतुकी तीव्रतामें सबसे आगे मृत्युके पथका वेही अनुगमन करते हैं। मौत ही एक है जो उनकी दशापर दया करके जल्द जल्द उन्हें जीवनरूपी रोगके कष्टसे छुड़ाती है!

इसी कलकत्तेमें इसी इमारतोंके नगरमें माइ लार्डकी प्रजामें हजारों आदमी ऐसे हैं जिनको रहनेको सड़ा झोपड़ा भी नहीं है। गलियों और सड़कोंपर घूमते घूमते जहां जगह देखते हैं वहीं पड़ रहते हैं। पहरेवाला आकर डण्डा लगाता है तो सरक कर दूसरी जगह जा पड़ते हैं। बीमार होते हैं तो सड़कोंहीपर पड़े पांव पीटकर मर जाते हैं। कभी आग जलाकर खुले मैदानमें पड़े रहते हैं। कभी कभी हलवाइयोंकी भट्टियोंसे चमट कर रात काट देते हैं। नित्य इनकी दोचार लाशें जहां तहांसे पड़ी हुई पुलिस उठाती है। भला माइ लार्डतक उनकी बात कौन पहुंचावे? दिल्ली दरबारमें भी जहां सारे भारतका वैभव एकत्र था सैकड़ों ऐसे लोग दिल्लीकी सड़कोंपर पड़े दिखाई देते थे, परन्तु उनकी ओर देखने-वाला कोई न था। यदि माइ लार्ड एक बार इन लोगोंको देख पाते तो पूछनेको जगह हो जाती कि वह लोग भी ब्रिटिश राज्यके 'सिटिज़न' हैं वा नहीं? यदि हैं तो कृपापूर्वक पता लगाइये कि उनके रहनेके स्थान कहां हैं और ब्रिटिश राज्यमे उनका क्या नाता है? क्या कहकर वह अपने राजा और उसके प्रतिनिधिको सम्बोधन करें? किन शब्दोंमें ब्रिटिश राज्यको असीस दें? क्या यों कहें कि जिस ब्रिटिश राज्यमें हम अपनी जन्मभूमिमें एक अंगुल भूमिके अधिकारी नहीं, जिसमें हमारे शरीरको फटे चिथड़े भी नहीं जुड़े और न कभी पापी पेटको पूरा अन्न मिला उस राज्यकी जय हो! उसका राजप्रतिनिधि हाथियोंका जुलूस निकाल-

कर सबसे बड़े हाथीपर चवंर छत्र लगा कर निकले और स्वदेशमें जाकर प्रजाके मुखी होनेका डङ्का बजावे ?

इस देशमें करोड़ों प्रजा ऐसी है जिसके लोग जब सन्ध्या सबेरे किसी स्थानपर एकत्र होते हैं तो महाराज विक्रमकी चर्चा करते हैं और उन राजामहाराजोंकी गुणावली वर्णन करते हैं जो प्रजाका दुःख मिटाने और उनके अभावोंका पता लगानेके लिये रातोंको वेश बदल कर निकला करते थे। अकबरके प्रजापालनकी और बीरवरके लोकरञ्जनकी कहानियां कहकर वह जी बहलाते हैं और समझते हैं कि न्याय और सुखका समय बीत गया। अब वह राजा संसारमें उत्पन्न नहीं होते जो प्रजाके सुखदुःखकी बातें उनके घरोंमें आकर पूछ जाते थे। महारानी विक्टोरियाको वह अवश्य जानते हैं कि वह महारानी थीं।

इन सब विचारोंने इतनी बात तो शिवशम्भुके जीमें भी पक्की कर दी कि अब राजा प्रजाके मिलकर होली खेलनेका समय गया। जो बाकी था वह काश्मीरनरेश महाराज रणवीरसिंहके साथ समाप्त हो गया। इस देशमें उस समयके फिर लौटनेकी जल्द आशा नहीं। इस देशकी प्रजाका अब वह भाग्य नहीं है। तो भी इतना संदेश भङ्गड़ शिवशम्भु शर्म्मा अपने प्रभु तक पहुंचा देना चाहता है कि आपके द्वारपर होली खेलने की आशा करनेवाले एक ब्राह्मणको कुछ नहीं तो कभी कभी पागल समझ कर ही स्मरण कर लेना। वह आपकी गूंगी प्रजाका एक वकील है जिसके शिक्षित होकर मुंह खोलनेतक आप कुछ करना नहीं चाहते।

कवि और कविता

कविता को सरस, मनोरञ्जक और हृदय-ग्राहिणी बनाने के लिए कवि को किन किन बातों का ख़याल रखना चाहिए इस बात का विचार आज-कल के कितने ही पद्य-रचना-कर्त्ता बहुत कम करते हैं। उन्होंने कविता लिखना बहुत सहल काम समझ लिया है। वे शायद तुली हुई पंक्तियों ही को कविता समझते हैं। यह भ्रम है। कविता एक चीज़ है, तुली हुई शब्द-स्थापना दूसरी चीज़।

उर्दू का साहित्य समूह हिन्दी से बढ़ा-चढ़ा है। इस बात को क़बूल करना ही चाहिए। हिन्दी के हितैषियों को उचित है कि हिन्दी-साहित्य को उन्नत करके उसकी लाज रक्खें। उर्दू में इस समय अनेक विषयों के कितने ही ऐसे ऐसे ग्रंथ विद्यमान हैं जिनका नाम तक हिन्दी में नहीं। उर्दू-लेखकों में शम्स-उल-उल्मा हाली, आज़ाद, ज़काउल्ला, नज़ीर अहमद आदि की बराबरी करने वाला हिन्दी में शायद ही कोई हो। इन साहित्यसेवियों ने उर्दू के ज्ञानागार को खूब समृद्धिशाली कर दिया है। हिन्दी वालों को चाहिए कि वे इन लोगों की पुस्तकें पढें और वैसी ही पुस्तकें हिन्दी में लिखने की कोशिश करें। इनमें से आज हमें हाली के विषय में कुछ कहना है।

शम्स-उल-उल्मा मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली उर्दू के बहुत बड़े कवि हैं। आपने उर्दू में नई तरह की कविता की नींव डाली है। आपकी "मुसद्दस" नाम की कविता ग़ज़ब की है। जिन्होंने इसे न पढ़ा हो, जरूर पढ़ें। आप देहली के पास, पानीपत, के रहनेवाले हैं। देहली के प्रसिद्ध कवि असदुल्लाख़ां (ग़ालिब) की कृपा से आपने कविता सीखी। पहले आप लाहौर में मुलाज़िम थे। वहां से देहली आये। अब आप शायद पानीपत में मकान ही पर रहते* हैं। बूढ़े हो गये हैं। आपने कई अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखीं हैं। कविता में आपका बड़ा नाम है। आपने "मुक़द्दमा" नाम का एक लेख लिखा है। यह लेख आपके "दीवान" के साथ छपा है। इस लेख में आपने कवि और कविता पर अपने विचार बड़ी योग्यता से प्रकट किये हैं। प्राय: उसीके आधार पर हम यह लेख लिखते हैं।

यह बात सिद्ध समझी गई है कि अच्छी कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े-बड़े विद्वान् अच्छी कविता नहीं कर सकते उसी पर अपढ़और कम उम्र लड़के कभी-कभी अच्छी कविता लिख लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी-किसी में कविता लिखने की शक्ति स्वाभाविक होती है ईश्वर-दत्त होती है। जो चीज़ ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को कुछ न कुछ लाभ अवश्य पहुंचता

---

* खेद है देहान्त हो गया, १९२९।

है। अतएव यदि कोई यह समझता हो कि कविता करना व्यर्थ है तो यह उसकी भूल है। हां, कविता के लक्षणों से च्युत, तुले हुए वर्णों या मात्राओं की पद्य नामक पंक्तियां व्यर्थ हो सकती हैं। आजकल प्रायः ऐसी ही पद्य-मालिकाओं का प्राचुर्य्य है। इससे यदि कविता को कोई व्यर्थ समझे तो आश्चर्य्य नहीं।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो सम्भव नहीं कि उसे सुनकर सुनने वाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बहुत बड़े-बड़े काम हुए हैं। इस बात के प्रमाण मौजूद हैं। अच्छी कविता सुनकर कविता-गत रस के अनुसार दुःख, शोक, क्रोध, करुणा और जोश आदि भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते। जैसा भाव मन में पैदा होता है, कार्य्य के रूप में फल भी वैसा ही होता है। हम लोगों में, पुराने जमाने में, भाट, चारण आदि अपनी-अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता का सञ्चार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसंगों का वर्णन सुनने और उत्तर-रामचरित आदि दृश्य-काव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है वह क्या है? वह अच्छी कविता का ही प्रभाव है। पुराने ज़माने में ग्रीसके एथेन्स नगर वाले मेगारावालों से वैर-भाव रखते थे। एक टापू के लिए उनमें कई दफ़े लड़ाइयां हुईं। पर हर बार एथेन्स वालों ही की हार हुई। इस पर सोलन नाम के विद्वान् को बड़ा दुःख हुआ। उसने एक कविता लिखी। उसे उसने एक ऊंची जगह पर चढ़ कर एथेन्स वालों को सुनाया। कविता का भावार्थ यह था——

"मैं एथेन्स में न पैदा होता तो अच्छा था। मैं किसी और देश में क्यों न पैदा हुआ? मुझे ऐसे देश में पैदा होना था जहां के निवासी मेरे देश-भाइयों से अधिक वीर, अधिक कठोर-हृदय और उनकी विद्या से बिलकुल वेख़बर हों। मैं अपनी वर्तमान अवस्था की अपेक्षा उस अवस्था में अधिक सन्तुष्ट होता। यदि मैं किसी ऐसे देश में पैदा होता तो लोग मुझे देख कर यह तो न कहते कि यह आदमी उसी एथेन्स का रहने वाला है जहां वाले मेगारा के निवासियों से लड़ाई में हार गये और लड़ाई के मैदान से भाग निकले। प्यारे देश बन्धु, अपने शत्रुओं से जल्द इसका बदला लो। अपने इस कलङ्क को फौरन धो डालो। लज्जाजनक पराजय के अपने अपयश को दूर कर दो। जब तक अपने अन्यायी शत्रुओं के हाथ से अपना छिना हुआ देश न छुड़ा लो तब तक एक मिनट भी चैन से न बैठो"। लोगों के

दिल पर इस कविता का इतना असर हुआ कि फौरन मेगारा वालों पर फिर चढ़ाई कर दी गई और जिस टापू के लिए यह बखेड़ा हुआ था उसे एथेन्स वालों ने लेकर ही चैन ली। इस चढ़ाई में सोलन ही सेनापति बनाया गया था।

रोम, इङ्गलैंड, अरब, फारस आदि देशों में इस बात के सैकडों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असम्भव बातें सम्भव कर दिखाई हैं। जहां पस्तहिम्मती का दौरदौरा था वहां जोश पैदा कर दिया है। जहां शान्ति थी वहां ग़दर मचा दिया है। अतएव कविता एक साधारण चीज़ है। परन्तु विरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

जब तक ज्ञान-वृद्धि नहीं होती—जब तक सभ्यता का ज़माना नहीं आता—तभी तक कविता की विशेष उन्नति होती है। क्योंकि सभ्यता और कविता में परस्पर विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है। कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्ध-सभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के ख़ास ख़ास स्थलों का जितना प्रभाव स्त्रियों पर पड़ता है उतना पढेलिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता। हजारों वर्ष से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन कवि करते हैं उनका वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका। जो नये कवि होते हैं वे भी उलटफेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसीसे अब कविता कम हृदय-ग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी देख पड़े कवि को उसे वैसी ही वर्णन करना चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। इसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका असर लोगों पर पूरा पूरा पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण दोषों को देख कर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि वह बेरोकटोक प्रकट कर दे तो उसकी कविता हृदयद्रावक हुए बिना न रहे। परन्तु परतन्त्रता, या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी कारण से, सच

बात कहने में किसी तरह की रुकावट पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो, कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभाव-हीन, हो जाती है। सामाजिक और राजनीतिक विषयों में, कटु होने के कारण, सच कहना भी जहां मना है, वहां इन विषयों पर कविता करने वाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिए कोई रोक न होनी चाहिए अथवा जिस विषय में रोक हो उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब, वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन से उसे संतोष करना उचित है।

खुशामद के जमाने में कविता की बुरी हालत होती है। जो कवि राजों, नव्वाबों या बादशाहों के आश्रय में रहते हैं, अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनकी खुशामद करनी पड़ती है। वे अपने आश्रय-दाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं, कि उनकी उक्तियां असलियत से बहुत दूर जा पड़ती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुंचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम, प्रभावोत्पादक रीति से, यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है ; आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलङ्कार-शास्त्र के आचार्य्यों ने अतिशयोक्ति एक अलङ्कार जरूर माना है। परन्तु अभावोक्तियां भी क्या कोई अलङ्कार हैं? किसी कवि की बेसिर-पैर की बातें सुनकर किस समझदार आदमी को आनन्द प्राप्ति हो सकती है? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं वह समाज कभी प्रशंसनीय नहीं समझा जाता। काबुल के अमीर हबीबुल्लाखां ने अपनी कविता-बद्ध निराधार प्रशंसा सुनने से, अभी कुछ ही दिन हुए, इनकार कर दिया। खुशामद-पसन्द आदमी कभी आदर की दृष्टि से नहीं देखे जाते।

कारण-वश अमीरों की झूठी प्रशंसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कवि समुदाय के आमरण लगे रहने से कविता की सीमा कटछंट कर बहुत थोड़ी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि आशिक़ाना (शृङ्गारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइए, किसी

मसनवी को उठाइए, आशिक़-माशूकों के रङ्गीन रहस्यों से आप उसे आरम्भ से अन्त तक रंगी हुई पाइएगा। इश्क़ भी यदि सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है। पर क्या कोई कह सकता है कि आशिक़ाना शेर कहने वालों का सारा रोना, कराहना, ठंडी सासें लेना, जीते ही अपनी क़ब्रों पर चिराग़ जलाना सब सच है? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा सा भी अंश सच है? फिर, इस तरह की कविता सैकड़ों बर्षों से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके, जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नये कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक, वही छन्द, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक! इस पर भी लोग पुरानी लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज़ नहीं आते। नखशिख, नायिका-भेद, अलङ्कार शास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ बनावटी बातों से देवीदेवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचते। फल इसका यह हुआ है कि कविता की असलियत काफूर हो गई है। उसे सुनकर सुनने वाले के चित्त पर कुछ भी असर नहीं होता उलटा कभी मनमें घृणा का उद्रेक अवश्य उत्पन्न हो जाता है।

कविता के विगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़ जाती है तब उसका असर सारे ग्रन्थकारों पर पड़ता है! यही क्यों, सर्वसाधारण की बोल-चाल तक में कविता के दोष आ जाते है। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोलचाल के सम्बन्ध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहाबिरों को कोशकार अपने कोशों में रखते हैं। मतलब यह है कि भाषा और बोल-चाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों ही के हाथ में रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं उस भाषा की उन्नति तो होती नहीं, उलटी अवनति होती जाती है।

कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नये तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निन्दा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान

आदमी कहते हैं, यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं, कि यह कविता तो "छन्दोदिवाकर" में दिये गये लक्षणों से च्युत है; अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि जिसे अब तक कविता कहते आये हैं वही उनकी समझ में कविता है और सब कोरी कांव कांव इसी तरह की नुकताचीनो से तङ्ग आकर अंगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को सम्बोधन करके उसकी सान्त्वना की है। वह कहता है—"कविते! यह बेक़दरी का ज़माना है। लोगों के चित्त का तेरी तरफ़ खिचना तो दूर रहा, उल्टे सब कहीं तेरी निन्दा होती है। तेरी बदौलत सभासमाजों और जलसों में मुझे लज्जित होना पड़ता है। पर जब मैं अकेला होता हूं तब तुझ पर मैं घमण्ड करता हूं। याद रख, तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं वे निर्धन होकर भी आनन्द से रह सकते हैं। पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद ज़रूर चूर्ण हो जाता है।

गोल्डस्मिथ ने इस विषय में बहुत कुछ कहा है; पर हमने उसके कथन का सारांश बहुत ही थोड़े शब्दों में दे दिया है। इस से प्रकट है कि नई कविताप्रणाली पर भ्रकुटी टेढ़ी करने वाले कवि-प्रकाण्डों के कहने की कुछ भी परवा न करके अपने स्वीकृत पथ से ज़रा भी इधर-उधर होना उचित नहीं। नई बातों से घबराना और उनके पक्षपातियों की निन्दा करना मनुष्य का स्वभाव सा हो गया है। अतएव नई भाषा और नई कविता पर यदि कोई नुकताचीनी करे तो आश्चर्य नहीं।

आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रक्खा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है। जो अंगरेज़ी की पोयटरी (poetry) और वर्स (verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरञ्जक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है; और नियमानुसार तुली हुई पंक्तियों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं। वह नपी-तुली शब्द-स्थापना मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य्य नहीं। संस्कृत का प्राय: सारा पद्यसमूह बिना तुकबन्दी का है और संस्कृत से बढ़कर कविता शायद ही किसी और भाषा में हो। अरब में भी सैकड़ों अच्छे-अच्छे कवि हो गये हैं।

वहां भी शुरू-शुरू में तुकबन्दी का बिलकुल ख्याल न था। अङ्गरेज़ी में भी अनुप्रास-हीन बेतुकी कविता होती है। हां, एक बात जरूर है कि वज़न और क़ाफ़िये से कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है। पर कविता के लिए ये बातें ऐसी ही हैं जैसे कि शरीर के लिए वस्त्राभरण। यदि कविता का प्रधान धर्म्म मनोरञ्जकता और प्रभावोत्पादकता उसमें न हो तो इनका होना निष्फल समझना चाहिए। पद्य के लिए क़ाफ़िये बगैरह की ज़रूरत है; कविता के लिए नहीं। कविता के लिए तो ये बातें एक प्रकार से उल्टे हानिकारक हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूंढ़ने से कवियों के विचार-स्वातन्त्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियां हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे। पर क़ाफ़िया और वज़न उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावों को स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं प्रकट होने देते। क़ाफ़िये और वज़न को पहले ढूढ़कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकुल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान बात अप्रधानता को प्राप्त हो जाती है और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। इस से कवि अपने भाव स्वतन्त्रतापूर्वक नही प्रकट कर सकता। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर कम हो जाता है। कभी-कभी तो वह बिल्कुल ही जाता रहता है। अब आप ही कहिए कि जो वज़न और क़फिया कविता के लक्षण का कोई अंश नहीं उन्हें ही प्रधानता देना भारी भूले है या नही?

जो बात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर ज़रूर पड़े, उसी का नाम कविता है। आज-कल हिन्दी में जो सज्जन पद्य-रचना करते हैं और उसे कविता समझकर छपाने दौड़ते हैं उनको यह बात ज़रूर याद रखनी चाहिए। इन पद्य रचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पद्यों को कालिदास, होमर और बाइरन की कविता से भी बढ़ कर समझते हैं यदि कोई सम्पादक उन्हें प्रकाशित करने से इनकार करता है तो वे अपना अपमान समझते हैं और बेचारे सम्पादक के खिलाफ़ नाटक, प्रहसन और व्यङ्ग-पर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन

शान्त करते हैं। वे इस बात को बिलकुल ही भूल जाते हैं कि यदि उनकी पद्य-रचना अच्छी हो तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो उसे अपने पत्र या पुस्तक में सहर्ष और सधन्यवाद न प्रकाशित करेगा ?

कवि का सबसे बड़ा गुण नई-नई बातों का सूझना है। उसके लिए कल्पना (Imagination) की बड़ी ज़रूरत है। जिस में जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अधिक अच्छी कविता लिख सकेगा। कविता के लिए उपज चाहिए। नये-नये भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं वह कभी अच्छी कविता नहीं लिख सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं। इसीलिए संस्कृत-वालों ने प्रतिभा को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है। अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती है। इस शक्ति को कवि मां के पेट से लेकर पैदा होता है। इसी की बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है, वर्त्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को एक अजीब निराले ढंग से बयान करता है, जिसे सुनकर सुननेवाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख, दुःख, आश्चर्य्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी कभी ऐसी अद्भुत बातें कह देते हैं कि जो कवि नहीं हैं उनकी पहुंच वहां तक कभी हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई ओर-छोर नहीं। वह अनन्त है। प्रकृति अद्भुत अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल में वह अजीब-अजीब कौशल दिखाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ ही नहीं सकते। पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह देख लेता है; उनका वर्णन भी करता है; उनसे नाना प्रकार की शिक्षा भी ग्रहण करता है; और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ भी पहुंचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।

प्रकृति-पर्य्यालोचना के सिवा कवि को मानव-स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख, दुःख आदि का अनभव करता है। उसकी दशा कभी एक सी नहीं रहती। अनेक प्रकार

की विकारतरंगें उसके मन में उठा ही करती हैं। इन विकारों की जांच, ज्ञान और अनुभव करना सबका काम नहीं। केवल कवि ही इनके अनुभव करने और कविता द्वारा औरों को इनका अनुभव कराने में समर्थ होता है। जिसे कभी पुत्र-शोक नहीं हुआ उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना सम्भव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र-शोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुननेवाला तन्मय होकर उस दुःख से अभिभूत हो जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वयं उसी पर वह दुःख पड़ रहा है। जिस कवि को मनो-विकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

इसी प्रकार कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्दस्थापना की भी बड़ी ज़रूरत है। किसी मनो-विकार के दृश्य के वर्णन में ढूंढ़ ढूंढ़ कर ऐसे शब्द रखने चाहिए जो सुननेवाले की आंखों के सामने वर्ण्य-विषय का चित्र सा खींच दें। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दों में न प्रकट किया गया तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता तो कम ज़रूर हो जाता है। इसीलिए कवि को चुन चुन कर ऐसे शब्द रखने चाहिए, और इस क्रम से रखने चाहिए, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय। उसमें कसर न पड़े। मनोभाव शब्दों ही के द्वारा व्यक्त होता है। अतएव युक्तिसङ्गत शब्द-स्थापना के बिना कवि की कविता तादृश हृदयहारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्द-स्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिए कि जिसके पास काफ़ी शब्द-समूह नहीं है, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिए। जो सुकवि हैं उन्हें एक एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है। वे ख़ूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनको भाव प्रकट करने की एक बाल भर भी कमी होती है उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते। आजकल के पद्य-रचना-कर्त्ता महाशयों को इस बात का बहुत कम ख़याल रहता है। इसीसे उनकी कविता, यदि अच्छे भाव से भरी हुई भी हो तो भी, बहुत कम असर पैदा करती है। जो कवि प्रति पंक्ति में, निरर्थक 'सु', 'जु' और 'रु' का प्रयोग करता है वह मानों इस बात का खुद ही सर्टीफ़िकेट दे रहा

है कि मेरे अधिकृत शब्दकोश में शब्दों की कमी है। ऐसे कवियों की कविता कदापि सर्व-सम्मत और प्रभावोत्पादक नहीं हो सकती।

अंगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के गुण वर्णन किये हैं। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हुई हो, और असलियत से गिरी हुई न हो।

सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ शब्द-समूह ही सादा हो, किन्तु विचार-परम्परा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ में न आवे, या देर से समझ में आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो जो उसे समझने में गहरे विचार की ज़रूरत हो। कविता पढ़ने या सुनने वाले को ऐसी साफ़-सुथरी सड़क मिलनी चाहिए जिस पर कंकड़, पत्थर, टीले, खन्दक़, कांटे और झाड़ियों का नाम न हो। वह खूब साफ़ और हमवार हो, जिससे उस पर चलने वाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क ज़रा भी ऊंची-नीची होने से बाइसिकल (पैरगाड़ी) के सवार को दचके लगते हैं उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी भी समतल न हुई तो पढ़ने वाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कविता-रूपी सड़क के इधर-उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हों; दोनों तरफ़ फलों-फूलों से लदे हुए पेड़ हों; जगह जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों; प्राकृतिक दृश्यों की नई-नई झांकियां आंखों को लुभाती हों। दुनियां में आजतक जितने अच्छे-अच्छे कवि हुए हैं उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भाव और अटपटे शब्द प्रयोग करने वाले कवियों की कभी क़द्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ हुई भी है तो थोड़े ही दिनों तक। ऐसे कवि विस्मृति के अन्धकार में ऐसे छिप गये हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एक मात्र शब्द-झङ्कार ही जिन कवियों की करामात है उन्हें चाहिए कि वे एकदम ही बोलना बन्द कर दें।

भाव चाहे कैसा ही ऊंचा क्यों न हो, पेचीदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों। मतलब यह कि भाषा बोल-चाल की हो। क्योंकि कविता की भाषा बोल-चाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोल चाल से मतलब उस भाषा से है जिसे ख़ास और आम सब बोलते हैं; विद्वान् और

अविद्वान् दोनों जिसे काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहाविरे का भी ख़याल रखना चाहिए। जो हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं वे यदि बोल-चाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई-कोई ऐसे शब्दों को उनके मूल-रूप में लिखना ही सही समझते हैं। पर यह उनकी भूल है। जब अन्य भाषा का कोई शब्द किसी और भाषा में आजाता है तब वह उसी भाषा का हो जाता है। अतएव उसे उसकी मूल भाषा के रूप में लिखने जाना भाषाविज्ञान के नियमों के ख़िलाफ़ है। खुद 'मुहावरह' शब्द ही को देखिए। जब उसे अनेक लोग हिन्दी में 'मुहाविरा' लिखने और बोलने लगे तब उसका असली रूप जाता रहा। वह हिन्दी का शब्द होगया। यदि अन्य भाषाओं के बहु-प्रयुक्त शब्दों का मूल रूप ही शुद्ध माना जायगा तो घर, घड़ा, हाथ, पांव, नाक, कान, ग़श, मुसलमान, क़ुरान, मैगज़ीन, एडमिरल, लालटेन आदि शब्दों को भी उनके पूर्व रूप में ले जाना पड़ेगा। एशियाटिक सोसाइटी के जनवरी १९०७ के जर्नल में फेंच और अंगरेज़ी आदि यूरोपियन भाषाओं के १३८ शब्द ऐसे दिए गये हैं जो फ़ारस के फ़ारसी अख़बारों में प्रयुक्त हैं। इनमें से कितने ही शब्दों का रूपान्तर होगया है। अब यदि इस तरह के शब्द अपने मूल-रूप में लिखे जायंगे तो भाषा में बेतरह गड़बड़ पैदा हो जायगी।

असलियत से मतलब यह नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का ख्याल रक्खा जाय। यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने पर यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बेबुनियाद न हो उसमें जो उक्ति हो वह मानवी मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ़ करने लगे और यदि वह उसे सचमुच ही सच समझे, अर्थात् यदि उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह भी असलियत से खाली नहीं फिर् चाहे और लोग उसे उलटा ही क्यों न समझते हों। परन्तु इन बातों में भी स्वाभाविकता से दूर न जाना चाहिए। क्योंकि स्वाभाविक अर्थात् 'नेचुरल' (natural) उक्तियां ही सुनने वाले के हृदय पर असर कर सकती हैं, अस्वाभाविक नहीं। असलियत

को लिए हुए कवि स्वतन्त्रतापूर्वक जो चाहे कह सकता है ; असल बात को एक नये सांचे में ढाल कर कुछ दूर तक इधर-उधर भी उड़ सकता है। पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत हाथ से जाने देना मानो कविता को प्रायः निर्जीव कर डालना है। शब्द और अर्थ दोनों ही के सम्बन्ध में उसे स्वाभाविकता का अनुसरण करना चाहिए। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे और जिस क्रम से शब्द-प्रयोग करते हैं वैसे ही कवि को भी करना चाहिए। कविता में उसे कोई बात ऐसी न कहनी चाहिए जो दुनियां में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती हैं, अथवा जिन बातों का होना सम्भव है, वेही स्वाभाविक हैं। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है। हम इन बातों को उदाहरण देकर अधिक स्पस्ट कर देते, पर लेख बढ़ जाने के डर से वैसा नहीं करते।

जोश से यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे इस तरह कहे मानो उससे प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुंह से निकल गये हैं। उनसे बनावट न ज़ाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कही हैं ; किन्तु यह मालूम हो कि उसके हृद्गत भावों ने कविता के रूप में अपने को प्रकट कराने के लिए उसे विवश किया है। जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक होता है। वर्ण्य वस्तु को देखकर, किसी अदृश्य-शक्ति की प्रेरणा से, वह उस पर कविता करने के लिए विवश सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव चीज़ों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढंग से करता है कि यदि उन चीज़ों में बोलने की शक्ति होती तो खुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं। जोश से यह भी मतलब नहीं कि कविता के शब्द ख़ूब जोरदार और जोशीले हों। सम्भव है, शब्द ज़ोरदार न हों ; पर जोश उन में छिपा हुआ हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है और पढ़ने या सुननेवाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परन्तु ऐसे शब्दों का प्रयोग करना ऐसे वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी छुरी से तेज़ तलवार का काम लेना जानते हैं वही धीमे शब्दों में जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इन में से एक आध गुण की कमी

पाई जाती है। कभी कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। कभी कभी सादगी और जोश पाये जाते हैं, असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।

अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा। वही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुंह से सहसा यह उक्ति निकलती है! ऐसे कवि धन्य हैं; और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते हैं वह देश भी धन्य है। ऐसे ही कवियों की कविता चिरकाल तक जीवित रहती है।

आपत्तियों का पर्वत

जगत्प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी महात्मा सौक्रेटीज़ का मत था कि यदि संसार के मनुष्य मात्र की आपत्तियां एक ठौर एकत्र की जायं और फिर सबको बराबर बराबर हिस्सा बांट दिया जाय तो इस प्रबंध से भी उन मनुष्यों को संतोष नहीं हो सकता जो पहले अपने को अत्यंत अभागा वा विपद्ग्रस्त समझते थे, क्योंकि वे शीघ्र ही यह विचारने लगेंगे कि हमारी पूर्व दशा ही अच्छी थी। इसका कारण यह है कि जो दशा अच्छी वा बुरी विधना की ओर से हमें मिली है वह या तो (१) हमारी सहनशक्ति के योग्य होती है, या (२) उसमें रहने से हम उसको सहन करने में अभ्यस्त हो जाते हैं, और इस कारण दोनों अवस्थाओं में से कोई भी हमें नहीं खलती। महाकवि होरेस भी इस विषय में सौक्रेटीज़ से सहमत थे। इन्होंने यहां तक लिखा कि जिन कठिनाइयों वा यातनाओं में हम पिसते रहते हैं वे उन आपत्तियों की अपेक्षा बहुत ही न्यून हैं जो हमको अपनी दशा दूसरे से परिवर्तन करने में मिल सकती हैं।

मैं अपनी आरामकुर्सी पर बैठा उक्त दो कथनों पर विचार कर रहा था और अपनी मानसिक तरंगों में निमग्न था, कि मुझे झपकी सी आ गई और मैं तुरंत

खर्राटे लेने लग गया। सोते सोते देखता क्या हूं कि मैं एक रमणीक मैदान में जा पहुंचा हूं जिसके चारों ओर ऊंचे ऊंचे पर्वत श्रेणीबद्ध खड़े हैं। इन पर्वतों ने हरी वनस्पतियों से अपने प्रत्येक अंग को ऐसा ढक रखा है कि क्या मजाल जो कहीं भी खुला दिखाई दे जाय। इनके ढाल पर छोटे छोटे वृक्षों के बीच में कहीं कहीं कोई बड़ा वृक्ष देखने में बहुत भला लगता था। यद्यपि प्रकृति-रूपी माली ने इस मैदान में एक भी बड़ा वृक्ष रहने नहीं दिया है, पर मैदान की हरी हरी घास वायु के हिलोरों में लहलहाती हुई कैसी प्यारी लग रही है! मैं इन्हीं मानसिक भावों की तरंगों में अपने आपको भूल प्रकृति की अनुपम शोभा देख रहा था कि सहसा मुझे कुछ शब्द सुनाई पड़े। ध्यान देकर सुनने से जान पड़ा कि जैसे कहीं ढिंढोरा पिटता हो। पास के एक मनुष्य से पूछने पर मालूम हुआ कि भगवान् चतुरानन ने आज्ञा दी है कि मनुष्य मात्र आकर अपनी अपनी आपत्तियां इस स्थान में फेंक जायं। इस कार्य के लिये यह मैदान नियत किया गया है। यह सुनकर मैं भी, इस कौतुकमय लीला को देखने के लिये, एक कोने में खड़ा हो गया। मुझे यह देखकर एक प्रकार की प्रसन्नता होती थी कि सारे मनुष्य क्रमशः आ आकर अपनी अपनी विपत्ति की गठरी मैदान में फेंक रहे हैं। यह ढेर थोड़ी ही देर में इतना बड़ा हो गया कि आकाश को छूता दिखाई पड़ने लगा।

इस भीड़भाड़ में एक दुबली पतली चंचला स्त्री बड़ा उत्साह दिखा रही थी। ढीला ढाला वस्त्र पहने, हाथ में म्यागनीफाइंग ग्लास लिए वह इधर उधर घूमती दिखाई दे रही थी। उसके वस्त्र में भूत प्रेत के मनःकल्पित चित्र बेलबूटों में कढ़े थे।

जब उसका वस्त्र वायु में इधर उधर उड़ता तब बहुत सी विचित्र ढंग की हास्यजनक एवं भयानक कल्पित मूर्त्तियां उसमें दिखाई पड़तीं। उसकी चेष्टा से उन्माद तथा विह्वलता के कुछ चिह्न झलक रहे थे। लोग उसे भावना कहकर पुकारते थे। मैंने देखा कि वह चंचला प्रत्येक मनुष्य को अपने साथ ढेर के पास ले जाती, बड़ी उदारता से उनकी गठरी कंधे पर उठवा देती और अंत में उसके फेंकने में भी पूरी सहायता देती है। मेरा हृदय यह दृश्य देखकर कि सभी मनुष्य अपने विपद्भार के नीचे दब रहे हैं भर आया। आपत्तियों का यह पर्वत देखकर मेरा चित्त और भी चलायमान हो रहा था।

इस स्त्री के अतिरिक्त और भी कई मनुष्य मुझे इस भीड़ में विचित्र दिखाई पड़े। एक को देखा कि वह चीथड़ों की गठरी अपने लबादे के भीतर बड़ी सावधानी से छिपाए हुए आया है। जब उसे फेंकने लगा तब मैंने देखा कि वह अपने दारिद्र्य को फेंक रहा है। एक दूसरे को देखा कि बड़े पश्चात्ताप के साथ अपनी गठरी फेंककर चलता हुआ। मैंने उसके जाने पर उसकी गठरी खोलकर देखी तो मालूम हुआ कि दुष्ट अपनी अर्द्धांगिनी को फेंक गया है जिससे उसको सुख की अपेक्षा अति दुःख प्राप्त होता था। इसके अनंतर दिखाई दिया कि बहुतेरे प्रेमीजन अपनी अपनी गुप्त गठरी लिए आ रहे हैं।

पर सबसे आश्चर्यजनक बात यह थी कि यद्यपि ये लोग अपनी अपनी गठरियां फेंकने के हेतु लाए थे, और उनके दीर्घ निःश्वास से जान पड़ता था कि उनका हृदय इस बोझ के नीचे दबकर चूर चूर हुआ जाता है, पर उस ढेर के निकट पहुंचने पर उनसे फेंकते नहीं बनता।

ये लोग कुछ काल तक खड़े न जाने क्या सोचते रहे। उनकी चेष्टा से अब ऐसा जान पड़ने लगा कि उनके चित्त में मानों बड़ा संकल्प-विकल्प हो रहा है। फिर शीघ्र ही उनका मुख प्रफुल्ल दिखाई पड़ने लगा और वे अपनी अपनी गठरी ज्यों की त्यों लिए वहां से चलते दिखाई दिए। मैं समझ गया। इन लोगों ने तर्क-वितर्क के पश्चात् यही निश्चय किया कि अपनी अपनी बला अपने पास ही रखना भलमनसाहत है। इसी से ये सब अपनी गठरियां अपने घर लिए जा रहे हैं। मैंने देखा कि बहुत सी मनचली बूढ़ी स्त्रियां, जिनके मन की अभी सुख-भोग से तृप्ति नहीं हुई थी और जो चाहती थीं कि हम सदा नवयौवना ही बनी रहें, अपनी झुर्रियां फेंकने के लिये आ रही हैं। बहुतेरी अल्पवयस्का छोकड़ियां अपना काला वर्ण फेंक रही हैं और यह चाहती हैं कि मेरा रंग गोरा हो जाय। किसी ने अपनी बड़ी नाक, किसी ने नाटा कद और किसी ने अपनी बड़ी पेटी फेंक दी है और यह प्रार्थी हुई हैं कि मेरी तोंद की परिधि कुछ कम हो जाय या यदि रहे भी तो कुछ उंचाई अधिक मिल जाय। किसी ने अपना कुबड़ापन प्रसन्नतापूर्वक ढेर में फेंक दिया है। इसके पश्चात् रोगियों का दल आया जिसने अपना अपना रोग अलग कर दिया। पर मुझे सबसे आश्चर्यजनक यह जान पड़ा कि मैंने इन सब मनुष्यों में किसी को भी अब तक ऐसा नहीं देखा जो अपने दोषों वा अपनी

मूर्खता से अलग होने आया हो। मैंने पहले सोचा था कि मनुष्य मात्र इस समय अवसर पा अपना अपना मनोविकार फेंक जायंगे।

अब मैंने देखा कि कोई कोई मनुष्य पत्र के बंडल बगल में दबाए बड़ी व्यग्रता से फेंकने को दौड़े आ रहे हैं। क्यों भाई! यह पत्रों का बंडल कैसा? मालूम हुआ कि यह दफा १२४ ए० है, जिसने इन महाशयों को चिंताकुल कर रखा है, एवं इनके व्यापार में बाधा डाल रखी है। इसके अनंतर एक मूर्ख को देखा कि वह अपने अपराधों को बंडल में बांधकर फेंकने ले आया है, किंतु अपराधों को फेंकने के बदले अपनी चेतनाशक्ति को फेंके देता है। एक दूसरे महापुरुष अविद्या के स्थान में नम्रता को पटककर भागे जाते हैं।

जब इस प्रकार मनुष्य मात्र अपने अवगुणों की गठरियां फेंक चुके, तब वह चंचला युवती फिर दिखाई पड़ी, पर इस बार वह मेरी ओर आ रही है। यह देख मेरे जी में अनेक प्रकार के विचार उठने लगे। पर उसकी मदमाती चाल कुछ ऐसी भली मालूम हुई कि मैं एकटक उसी ओर देखता रहा। उसके अंग अंग में ऐसी चंचलता भरी थी कि चलने में एक एक अंग फड़कता था। मैं यह देख ही रहा था कि वह आ पहुंची और जैसे कोई किसी को दर्पण दिखावे, उसने अपने बृहद्दर्शक यंत्र को मेरे सम्मुख किया। मैं अपने चेहरे को उसमें देखकर चौंक पड़ा। उसकी अपरिमित चौड़ाई पर मुझे बड़ी ग्लानि हुई और उसको उपमुख के समान उतारकर मैंने भी फेंक दिया। संयोग से जो मनुष्य मेरी बगल में खड़ा था उसने अभी कुछ देर पहले अपने बेढब लंबे चेहरे को अलग कर दिया था। मैंने सोचा कि मुझे अपने लिये दूसरा चेहरा कहीं दूर खोजने नहीं जाना पड़ेगा और उसने भी यही सोचा कि उसे भी पास ही अपने योग्य सुडौल चेहरा मिल जायगा। मनुष्य मात्र अपनी आपत्तियां फेंक चुके थे। इस कारण अब उन सबको अधिकार था कि, अपने लिये, जो चाहें ढेर में से ले लें।

वास्तव में मुझे यह देख बड़ी प्रसन्नता होती थी कि संसार के सब मनुष्यों ने अपनी अपनी विपद फेंक दी है। उनकी आकृति से संतोष लक्षित हो रहा था। अपने कार्य से छुट्टी पा सभी इधर उधर टहल रहे थे। पर अब मुझे यह देख आश्चर्य हो रहा था कि बहुतों ने जिसे आपत्ति समझकर अलग कर दिया था उसी के लिये बहुतेरे मनुष्य टूट रहे थे, एवं मन ही मन यह कहते थे कि ऐसे स्वर्गीय पदार्थ

को जिसने फेंक दिया है वह अवश्य कोई मूर्ख होगा। अब भावना देवी फिर चंचल हुईं और इधर उधर दौड़ धूप करने लगीं। सबको फिर बहकाने लगीं कि तू अमुक पदार्थ ले, अमुक वस्तु न ले।

इस समय सारी भीड़ में जो कोलाहल मच रहा था उसका वर्णन नहीं हो सकता। मनुष्य मात्र में एक प्रकार की खलबली फैल रही थी। क्या बालक, क्या वृद्ध, सभी अपने अपने मनोवांछित पदार्थ के ढूंढ़ निकालने में दत्तचित्त हो रहे थे।

मैंने एक वृद्ध को, जिसे अपने एक उत्तराधिकारी की बड़ी चाह थी, देखा कि एक बालक को उठा रहा है। इस बालक को उसका पिता उससे दुखी होकर फेंक गया था। मैंने देखा कि इस दुष्ट पुत्र ने कुछ देर बाद उस वृद्ध का नाकों में दम कर दिया। वह बेचारा अंत में फिर यही विचारने लगा कि मेरा पूर्व क्रोध ही मुझे मिल जाय। संयोग से इस बालक के पिता से उसकी भेंट हो गई। इस वृद्ध ने उससे सविनय कहा कि महाशय! आप अपना पुत्र ले लीजिए और मेरा क्रोध मुझे लौटा दीजिए। पर अब ऐसा करने में वह समर्थ न था। एक जहाजी नौकर ने अपनी बेड़ी फेंक दी थी और बदले में वात रोग की गठरी उठा ली थी। पर इससे उसका स्वरूप ऐसा विचित्र हो गया था कि देखते नहीं बनता था। इसी प्रकार सभी ने कुछ न कुछ हेरा-फेरी की। किसी ने अपने दारिद्र्य के पलटे में कोई रोग पसंद किया, किसी ने क्षुधा देकर अजीर्ण उठा लिया। बहुतेरों ने अपनी पीड़ा के बदले कोई चिंता ले ली। पर सबसे अधिक स्त्रियां ही इस हेरा-फेरी में दिखाई देती थीं। इन्हें अपने नाक, कान वा चेहरे मोहरे के चुनने में बड़ी कठिनाई मालूम पड़ती थी। कोई अपने मुख पर के तिल से लंबे लंबे केश बदल रही है, किसी ने पतली कमर के बदले चौड़ा सीना लेने की इच्छा प्रकट की है। जो हो, पर ये अबलाएं अबला होने के कारण वा अपनी तीक्ष्णता के कारण अपनी नवीन दशा को शीघ्र ही समझ जायंगी एवं अपनी पूर्व दशा को प्राप्त करने और नवीन के त्यागने में सबसे पहले तत्पर हो जायंगी।

मुझे सबसे अधिक दया उस कुबड़े पर आती है जिसने अपना कुबड़ापन बदलकर पैर का लंगड़ापन पसंद किया था।

अब मैं अपना वृत्तांत सुनाता हूं। मैं पहले कह चुका हूं कि मेरे बगलवाले मनुष्य ने मेरा छोटा मुख अपने लिये चुन रखा था। उसने अवसर पाते ही मेरा

चेहरा उठा लिया और प्रसन्नतापूर्वक अपने चेहरे पर लगा लिया। मेरा गोल चेहरा लगाते ही वह ऐसा कुरूप तथा हास्यजनक दिखाई पड़ने लगा कि मैं हंसी न रोक सका। वह भी मेरी हंसी ताड़ गया और अपने किए पर अपने मन में पछताने लगा। अब मेरे मन में भी यह विचार उठा कि कहीं मैं भी वैसा ही बेढंगा न दिखाई पड़ता होऊं। नवीन चेहरा पाकर मैंने अपना माथा खुरचने के लिये हाथ बढ़ाया तो माथे का स्थान भूल गया। हाथ होठों तक पहुंचकर रुक गया। नाक के स्थान का भी ठीक ठीक अनुभव न था। इसी से उंगलियों की कई बार ऐसी ठोकर लगी कि नेत्रों में जल भर आया। मेरे पास ही दो मनुष्य ऐसी बेदब सूरतवाले खड़े थे जिन्हें देख देख मैं मन ही मन हंस रहा था।

वह सारा ढेर इस प्रकार मनुष्यों ने आपस में बांट लिया पर वास्तविक संतोष को वे तिस पर भी न प्राप्त कर सके। जो बुद्धिमान् थे उन्हें अपनी मूर्खता का बोध पहले होने लगा। सारे मैदान में पहले से अधिक विलाप और भनभनाहट का शब्द सुनाई देने लगा। जिधर दृष्टि पड़ती थी उसी ओर लोग बिलख रहे थे और ब्रह्मा की दुहाई दे रहे थे। जब ब्रह्मा ने देखा कि अब बड़ा हाहाकार मच गया है और यदि शीघ्र इनका उद्धार न किया गया तो और भी हाहाकार मच जायगा, तब उन्होंने फिर आज्ञा दी कि मनुष्य मात्र फिर अपनी अपनी आपत्तियां फेंक दें, उनकी उनकी पुरानी आपत्ति दे दी जायगी। यह आज्ञा सुन सबके जी में जी आया। सभी लोग जो उपस्थित थे मुग्ध हो गए, एवं जयध्वनि करने लगे। सबने पुनः अपनी अपनी गठरी फेंक दी। इस बार एक विशेषता देखने में आई। वह यह थी कि ब्रह्मा ने उस चंचला स्त्री को आज्ञा दी कि वह तत्क्षण वहां से चली जाय। यह आज्ञा पाते ही भावना देवी वहां से चल दी। उसका वहां से जाना था कि एक दूसरी स्त्री आती दिखाई पड़ी। पर इसकी उसकी आकृति में इतना अधिक भेद था कि दोनों की तुलना करना कठिन है। पर हां, दो-चार मोटी मोटी बातों पर विवेचना करके उनका अंतर दिखा देना हम आवश्यक समझते हैं। पहली स्त्री के चंचल नेत्र तथा चाल ढाल ऐसी मनमोहनी थी कि एक अनजान भोले भाले चित्त को मुट्ठी में कर लेना उसके लिये कोई बड़ी बात न थी, पर इस नई स्त्री की आकृति कुछ और ही कह रही थी। इसके देखते ही चित्त में भय तथा सम्मान

का संचार उत्पन्न हो आता था और चित्त यही चाहता था कि घंटों इसे खड़े देखा करें। जिस प्रकार विधना ने उसके अंग में चंचलता कूट कूटकर भर दी थी, उसी प्रकार इसके प्रत्येक अंग से शांति तथा गंभीरता बरस रही थी। यदि उसे आप शिशुवत् चंचला कहें तो इसे आपको अवश्य ही शांति देवी की मूर्ति कहना पड़ेगा। इसके चेहरे से यद्यपि गंभीरता का भाव लक्षित होता था, पर साथ ही एक मंद मुसकान दिखाई देती थी जिसका चित्त पर बड़ा दृढ़ प्रभाव पड़ता था। ज्योंही यह देवी मैदान में पहुंची, समस्त नेत्र इसकी ओर आर्काषित हो गए। यह धीरे धीरे आपत्तियों के पर्वत पर चढ़ गई। इसका उस ढेर पर चढ़ना था कि वह ढेर पहले की अपेक्षा तिगुना कम दिखाई देने लगा। न जाने इसमें क्या भेद था कि जितनी आपत्तियां थीं, सभी कठोरता-रहित और कोमल दिखाई पड़ने लगीं। मैं अति व्यग्र हो इस देवी का नाम पूछने लगा। इस पर एक दयावान् ने झिड़ककर उत्तर दिया, रे मूर्ख ! तू क्या इनसे परिचित नहीं है ? इन्हीं का नाम धीरता देवी है। अब ये देवी प्रत्येक मनुष्य को उसका पूर्व भाग बांटने लगीं और साथ ही साथ सबको समझाती जाती थीं कि इस संसार में किस प्रकार अपनी अपनी आपत्तियों को धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए। जो मनुष्य उनकी वक्तृता सुनता, वह संतुष्ट हो वहां से जाता दिखाई देता था। मैं इस रूपक के देखने में ऐसा निमग्न था कि सारी मनुष्यजाति अपना अपना भाग ले अपने अपने निवास-स्थान को सिधारी, पर मैं वहीं ज्यों का त्यों खड़ा सब लीला देखता रहा, यहां तक कि जब उस स्त्री के पास जाने और अपना विपत्ति-भाग लेने की मेरी बारी आई तब भी मैं अपने स्थान से नहीं टसका। इस पर एक आदमी मेरी ओर आता दिखाई पड़ा। मेरे पास आते ही पहले तो वह मुझसे कहने लगा कि "तुम वहां क्यों नहीं जाते ?" इस पर मैं कुछ उत्तर दिया ही चाहता था कि ऊं ऊं ऊं करके उठ बैठा और नींद खुल गई। नींद खुलते ही नेत्र फाड़ फाड़कर इधर उधर देखने लगा। न तो कहीं वह रमणीक स्थान था, न कहीं वह स्त्री थी, केवल मैं अपनी शय्या पर पड़ा था। मैं इस विचित्र स्वप्न पर विचार करने लगा। अंत में मैंने यही सारांश निकाला कि वस्तुतः इस संसार में मनुष्य के लिये धैर्य्य-पूर्वक अपनी आपत्तियों का सहन करना और कभी किसी दूसरे की दशा को ईर्ष्या की दृष्टि से न देखना ही सुख का मूल है।

समाज और साहित्य

सामाजिक स्थिति और साहित्य

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिये जो भावसामग्री निकालकर समाज को सौंपता है उसी के संचित भांडार का नाम साहित्य है। मनुष्य को सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है। यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें यह भली भांति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है।

साहित्य और समाज

पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म-संबंधी शक्ति पोप के हाथ में आ गई थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्त्तमान काल का सूत्रपात किया और युरोपीय मस्तिष्क स्वतंत्रता देवी की आराधना में रत हुआ तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि युरोपीय कार्यक्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातंन्त्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्यक्रांति का सूत्रपात रुसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेज़िनी के लेखों ने बोया। भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहां की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिन्ता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा। वृद्धि हुई, नए विचारों, नई संस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्ध-धर्म और आर्यसमाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिती के बीच हुआ। इस्लाम और हिंदू धर्म जब परस्पर पड़ोसी हुए तब दोनों में से कूप-मंडूकता का भाव निकालने के लिये कबीर नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव जीवन की सामाजिक गति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

साहित्य की उपयोगिता

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट-फेर हुए हैं, जिसने युरोप के गौरव को बढ़ाया जो मनुष्यसमाज का

हितविधायक मित्र है वह क्या हमें राष्ट्रनिर्माण में सहायता नही दे सकता ? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता ? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर को है, तब तो हमारा उसका प्रकृति-संयोग हो ही नहीं सकता।

अब तक जो वह हमारा सहायक नहीं हो सका है, इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस विस्तृत देश की स्थिति एकांत रही है और दूसरे इसके प्राकृतिक विभव का वारापार नहीं है। इन्ही कारणों से इस में संघशक्ति का संचार जैसा चाहिए वैसा नहीं हो सका है और यह अब तक आलसी और सुखलोलुप बना हुआ है। परंतु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार की दुर्गमता और स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मूल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव का लाभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है। यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित और प्रतिक्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

साहित्य की कसौटी

अब विचारणीय यह है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके ? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेष-कर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करनेवाला, संजीवनी शक्ति का संचार करनेवाला, चरित्र को सुन्दर सांचे में ढालनेवाला, तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करनेवाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको सब लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिंदी भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आ रहे हैं, और यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों में उसका उदय दिखाई पड़ेगा जिससे जन-समुदाय

की आंखें खुलेंगी और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

हिंदी और राष्ट्रीय साहित्य

पर क्या यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि इस बात की क्या आवश्यकता है कि ऐसे साहित्य के उत्पादन का उद्योग हिंदी ही में किया जाय? क्या अन्य भारतीय देश-भाषाओं में इसका सूत्रपात नहीं हो चुका है और क्या उनसे हमारा काम न चलेगा? मेरा दृढ़ विश्वास है कि समस्त भारतीय भाषाओं में हिंदी ही ऐसी है जो मातृभूमि की सेवा के लिये सर्वथा उपयुक्त है और जिससे सबसे अधिक लाभ की आशा की जा सकती है। गुजराती, मराठी, बंगला आदि भाषाओं का आधुनिक साहित्य हमारी हिंदी के वर्त्तमान साहित्य से कई अंशों में भरा पूरा है, पर उनके प्राचीन साहित्य की तुलना हिंदी के पुराने साहित्य-भांडार से नहीं हो सकती, इस कारण उन्हे परंपरा की प्राचीनता का गौरव प्राप्त नहीं है। जैसे किसी जाति के अभ्युत्थान में उसके प्राचीन गौरवान्वित इतिहास का प्रभाव अतुलनीय है वैसे ही भाषाओं को क्षमता प्रदान करने में उसकी प्राचीन परंपरा का बल भी अत्यंत प्रयोजनीय है। किसी लेखक ने बहुत ठीक कहा है कि इतिहास का मूल्य स्वतंत्रता से भी बढ़कर है। स्वतंत्रता खोकर भी हमें इतिहास की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि इतिहास के द्वारा हम फिर स्वतंत्रता पा सकते हैं। पर स्वतंत्रता के द्वारा खोए हुए इतिहास को हम फिर नहीं प्राप्त कर सकते। जिन जातियों का प्राचीन इतिहास नहीं है, जिन्हे अपनी प्राचीनता और पूर्व गौरव का अभिमान नहीं है वे या तो शीघ्र ही निर्मूल हो जायंगी अथवा अपनी जातीयता के सारे लक्षण खो बैठेंगी। पर जिनका इतिहास वर्त्तमान है, जिनको अपने पूर्वजों का गौरव है, जो अपनी जननी जन्मभूमि के नाम पर आंसू बहाती हैं वे पददलित होकर भी जीवित रह सकती हैं और फिर कभी अनुकूल अवसर पाकर अपना सिर ऊंचा कर सकती हैं। ठीक यही अवस्था भाषाओं के प्राचीन भांडार की है।

दूसरा गुण जो हिंदी में और भाषाओं की अपेक्षा अधिक पाया जाता है वह यह है कि इसका विस्तार किसी प्रांत वा स्थान की सीमा के भीतर बद्ध नहीं है। समस्त भारतभूमि में एक कोने से दूसरे कोने तक इसका थोड़ा बहुत आधिपत्य

जमा हुआ है और इसके द्वारा एक प्रांत के निवासी दूसरे प्रांत के रहनेवालों से अपने मनोगत भावों को येन केन प्रकारेण प्रकाशित कर सकते हैं। यदि विचार कर देखा जाय तो राष्ट्रीयता के लिये यह एक आवश्यक गुण है। तीसरा गुण जिसके कारण हिंदी का स्थान और भाषाओं की अपेक्षा उच्च है वह उसका अपनी मातामही से घनिष्ठ संबंध है। इन सब बातों को देखकर यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि हिंदी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होने के योग्य है और उसी के द्वारा हमें राष्ट्र-निर्माण में अमूल्य तथा वांछनीय सहायता मिल सकती है। पर वे क्या उपाय हैं जिनसे हिंदी के इस प्रकार गौरव प्राप्त करने का मार्ग सुगम और सुलभ हो जाय ? मेरी समझ में इन उपायों में सबसे पहला स्थान हमें देवनागरी अक्षरों के वर्द्धमान प्रचार को देना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि पहले की अपेक्षा इस समय नागरी का प्रचार बहुत बढ़ चुका है और दिनों दिन बढ़ता जा रहा है ; फिर भी उन स्थानों में विशेष सफलता नहीं देख पड़ती जिनमें वह बहुत अधिक वांछनीय है। जब एक ओर हम इस लिपि के नैसर्गिक गुणों की ओर ध्यान देते हैं जिनकी बड़े बड़े विद्वानों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है और जिनके कारण सारा संसार इसके ग्रहण का पक्षपाती हो सकता है और दूसरी ओर अपने ही देश में उसके समुचित प्रचार में बाधाएं देखते हैं तो न आश्चर्य करते बनता है और न दु:ख। इन बाधाओं के कई कारण हैं, जैसे हमारी राजनैतिक स्थिति, अनभिज्ञता, और दुराग्रह--इनका निवारण एक दिन में नहीं हो सकता। पर इसमें संदेह नहीं है कि ज्यों ज्यों इसके गुणों का ज्ञान लोगों को होता जायगा, वे अपने हानि-लाभ को समझने लगेंगे, त्यों त्यों ये विघ्न-बाधाएं कम होती जायंगी। फिर भी यह समझ लेना अत्यंत आवश्यक है कि ये विघ्न-बाधाएं साधारण नहीं हैं और इनके दूर करने में अनवरत परिश्रम की आवश्यकता है। इस संबंध में मैं एक बात कहे बिना नहीं रह सकता। जो लोग इसके गुणों को जानते और इसके प्रचार की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं वे भी जब "अंत: शाक्ता बहि: शैवा:" के सिद्धांत पर चलने लगते हैं तब यही कहना पड़ता है कि हम लोगों में अभी चरित्र का बड़ा अभाव है। इन लोगों में कपट व्यवहार का आधिक्य देखकर कभी कभी निराशा का अंधकार हृदय पर छा जाता है। पर निश्चय जानिए कि अब सार्वजनिक

जीवन सुगम नहीं रह गया है। जो लोग सार्वजनिक कामों में अग्रसर होने का विचार रखते हैं उन्हें अपने व्यवहार और बर्ताव में बहुत कुछ परिवर्तन करना होगा और जन साधारण को अपने साथ लेकर चलना पड़ेगा। अब वह समय नहीं रहा कि लोग भेड़ बकरियों की तरह हांके जा सकें।

अब मैं थोड़ी देर के लिये आपका ध्यान हिंदी के गद्य और पद्य की ओर दिलाना चाहता हूं। यद्यपि भाषा के इन दोनों अंगों की पुष्टि का प्रयत्न हो रहा है पर दोनों की गति समान रूप से व्यवस्थित नहीं दिखाई देती। गद्य का रूप अब एक प्रकार से स्थिर हो चुका है, उसमें जो कुछ व्यतिक्रम या व्याघात दिखाई पड़ जाता है वह अधिकांश अवस्थाओं में मतभेद के कारण नहीं बल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है। ये व्याघात या व्यतिक्रम प्रांतिक शब्दों के प्रयोग, व्याकरण के नियमों के उल्लंघन आदि के रूप में ही अधिकतर दिखाई पड़ते हैं। इनके लिये कोई मत-संबंधी विवाद नहीं उठ सकता। इनके निवारण के लिये केवल समालोचकों की तत्परता और सहयोगिता की आवश्यकता है। इस कार्य में केवल व्यक्तिगत कारणों से समालोचकों को दो पक्षों में नहीं बांटना चाहिए।

गद्य के विषय में इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोड़ा विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है। इसमें तो कोई मत-भेद नहीं कि जो बोली हिंदी गद्य के लिये ग्रहण की गई है वह दिल्ली और मेरठ प्रांत की है। अतः शब्दों के रूप, लिंग आदि का बहुत कुछ निश्चय तो वहां के शिष्ट प्रयोग द्वारा ही हो सकता है। जैसे पूरब में दही और हाथी को स्त्रीलिंग बोलते हैं पर पश्चिम में विशेष कर युक्त प्रांत में ये दोनों शब्द पुल्लिङ्ग स्वीकार करते हैं; यह इसलिये नहीं कि वे संस्कृत के अनुसार पुल्लिङ्ग वा क्लीव होंगे बल्कि इसलिये कि वे पुल्लिङ्ग रूप में ही उक्त प्रांत में व्यवहृत हैं। एक पंडितजी ने अपनी एक पुस्तक में पूरबी और पश्चिमी हिंदी का विलक्षण संयोग किया है। उनका एक शब्द है—सूतते हैं। सूतब क्रिया पूरब की है। उसमें उक्त पंडितजी ने प्रत्यय लगाकर उसे "सूतते हैं" बनाया। उन्होंने यह ध्यान नहीं दिया कि जिस स्थान में आते हैं जाते हैं आदि बोले जाते हैं वहां "सोते हैं" बोला जाता है "सूतते हैं" नहीं। उन्होंने "ने" विभक्ति पर भी अपनी बड़ी अरुचि दिखाई है, यह नहीं समझा कि वह किस प्रकार क्रिया के कृदंतमूलक रूप के कारण संस्कृत की तृतीया से खड़ी बोली में आई है।

कुछ लोग, विशेषतः बिहार के लोग, क्रियाओं के रूपों से लिंग-भेद उठाने की चर्चा भी कभी कभी कर बैठते हैं। पर वे यदि थोड़ी देर के लिये हिंदी भाषा की विकास-प्रणाली पर ध्यान देंगे तो उन्हें विदित होगा कि हिंदी क्रियाओं के रूप संस्कृत के संज्ञा कृदंत रूपों के सांचे में ढले हैं। जैसे 'करता है' रूप संज्ञा शब्द 'कर्त्ता' से बना है। इसी से स्त्रीलिंग से वह संस्कृत "कर्त्री" के अनुसार 'करती है' हो जाता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, यद्यपि हमारे गद्य की भाषा मेरठ और दिल्ली प्रांत की है पर साहित्य की भाषा हो जाने के कारण उसका विस्तार और प्रांतों में भी हो गया है। अतः वह उन प्रांतों के शब्दों का भी, अभावपूर्त्ति के निमित्त, अपने में समावेश करेगी। यदि उसके जन्म-स्थान में किसी वस्तु का भाव व्यंजित करनेके लिये कोई शब्द नहीं है तो वह दूसरे प्रांत से, जहां उसका समाज या साहित्य में प्रवेश है, शब्द ले सकती है। पर यह बात ध्यान रखने की है कि वह केवल अन्य स्थानों के शब्द मात्र अपने में मिला सकती है, प्रत्यय आदि नहीं ग्रहण कर सकती।

अब पद्य की शैली पर भी कुछ ध्यान देना चाहिए। भाषा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करे और साहित्य का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करके अपने अंतःकरण में भावों की अनेकरूपता का विकास करे। ये भाव साधारण भी होते हैं और जटिल भी। अतः जो लेख साधारण भावों को प्रकट करता हो वह साधारण ही कहलावेगा, चाहे उसमें सारे संस्कृत कोषों को ढूंढ़ ढूंढ़कर शब्द रखे गए हों और चार चार अंगुल के समास बिछाए गए हों। पर जो लेख ऐसे जटिल भावों को प्रकट करेंगे जो अपरिचित होने के कारण अंतःकरण में जल्दी न धंसेंगे वे उच्च कहलावेंगे, चाहे उनमें बोलचाल के साधारण शब्द ही क्यों न भरे हों। ऐसे ही लेखों से उच्च साहित्य की सृष्टि होगी। जो जनता के बीच नए नए भावों का विकास करने में समर्थ हो, जो उसके जीवन-क्रम को उलटने पलटने की क्षमता रखता हो वही सच्चा साहित्य है। अतः लेखकों को अब इस युग में बाण और दंडी होने की आकांक्षा उतनी न करनी चाहिए जितनी वाल्मीकि और व्यास होने की, बर्क, कारलाइल और रस्किन होने की।

कविता का प्रवाह आजकल दो मुख्य धाराओं में विभक्त हो गया है। खड़ी बोली की कविता का आरंभ थोड़े ही दिनों से हुआ है। अतः अभी उसमें उतनी

शक्ति और सरसता नहीं आई है, पर आशा है कि उचित पथ के अवलंबन द्वारा वह धीरे धीरे आ जायगी। खड़ी बोली में जो अधिकांश कविताएं और पुस्तकें लिखी जाती हैं वे इस बात का ध्यान रखकर नहीं लिखी जातीं कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा में भेद होता है। कविता की शब्दावली कुछ विशेष ढंग की होती है, उसके वाक्यों का रूप रंग कुछ निराला होता है। किसी साधारण गद्य को नाना छंदों में ढाल देने से ही उसे काव्य का रूप नहीं प्राप्त हो जायगा। अतः कविता की जो सरस और मधुर शब्दावली ब्रजभाषा में चली आ रही है उसका बहुत कुछ अंश खड़ी बोली में भी रखना पड़ेगा। भाववैलक्षण्य के संबंध में जो बातें गद्य के प्रसंग में कही जा चुकी हैं वे कविता के विषय में ठीक घटती हैं। बिना भाव की कविता ही क्या! खड़ी बोली की कविता के प्रचार के साथ काव्य क्षेत्र में जो अनधिकार प्रवेश की प्रवृत्ति अधिक हो रही है वह ठीक नहीं। मैंने कई नवयुवकों को कविता के मैदान में एक विचित्र ढंग से उतरते देखा है। छात्रा-वस्था में उन्होंने किसी अंगरेजी रीडर का कोई पद्य उठाया है और कुछ तुकवंदी के साथ उसका अनुवाद करके वे उसे किसी कवि या लेखक के पास संशोधन के लिये ले गए। कविता के अभ्यास का यह ढंग नहीं है। कविता का अभ्यास आरंभ करने के पहले अपनी भाषा के बहुत से नए पुराने काव्यों की शैली का मनन करना, रीति-ग्रंथों का देखना, रस अलंकार आदि से परिचित होना आवश्यक है। आजकल बहुत सी कविताएं ऐसी देखने में आती हैं जिन्हें आप न खड़ी बोली की कह सकते हैं न ब्रजभाषा की। उनके लेखक खड़ी बोली और ब्रजभाषा का भेद नहीं समझते। वे एक ही चरण में एक स्थान पर खड़ी बोली की क्रिया रखते हैं, दूसरे स्थान पर ब्रजभाषा की। आशा है कि ये सब दोष शीघ्र दूर हो जायंगे और हमारे काव्य का प्रवाह एक सुव्यवस्थित मार्ग का अनुसरण करेगा।

उत्साह

दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, आनंद-वर्ग में वही स्थान उत्साह का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के निश्चय से विशेष रूप में दुखी और कभी-कभी

उस स्थिति से अपने को दूर रखने के लिए प्रयत्नवान् भी होते हैं। उत्साह में हम आनेवाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय-द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमंग में अवश्य प्रयत्नवान् होते हैं। उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनंद का योग रहता है। साहसपूर्ण आनंद की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौंदर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।

जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कंठापूर्ण आनंद उत्साह के अंतर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं। साहित्य-मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्ध-वीर, दान-वीर, दया-वीर इत्यादि भेद किए हैं। इनमें सबसे प्राचीन और प्रधान युद्धवीरता है, जिसमें आघात, पीड़ा क्या मृत्यु तक की परवा नहीं रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यंत प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमें साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुंचते हैं। केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में ही उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहीं होता। उसके साथ आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जायगा, पर उत्साह नहीं। इसी प्रकार चुपचाप बिना हाथ पैर हिलाए घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन-से-कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जायगी। ऐसे साहस और ऐसी धीरता को उत्साह के अंतर्गत तभी ले सकते हैं जब कि साहसी या धीर उस काम को आनंद के साथ करता चला जायगा जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं। सारांश यह कि आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा में ही उत्साह का दर्शन होता है; केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।

दान-वीर में अर्थ-त्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होनेवाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता अंतर्हित रहती है। दानवीरता तभी कही जायगी जब दान के कारण दानी को अपने जीवन-निर्वाह में किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई देगी। इस कष्ट या कठिनता की मात्रा या संभावना जितनी ही अधिक होगी, दानवीरता उतनी ही ऊंची समझी जायगी। पर इस अर्थ-त्याग

के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनंद के चिह्न न दिखाई पड़ेंगे तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।

युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते हैं जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण-हानि तक की संभावना रहती है। अनु-संधान के लिए तुषार-मंडित अभ्रभेदी, अगम्य पर्वतों की चढ़ाई ध्रुवदेश या सहारा के रेगिस्तान का सफ़र, क्रूर बर्बर जातियों के बीच अज्ञात घोर जंगलों में प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कर्म हैं। इनमें जिस आनंदपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं वह भी उत्साह ही है।

मनुष्य शारीरिक कष्ट से ही पीछे हटनेवाला प्राणी नहीं है। मानसिक क्लेश की संभावना से भी बहुत से कर्मों की ओर प्रवृत्त होने का साहस उसे नहीं होता। जिन बातों से समाज के बीच उपहास, निंदा, अपमान इत्यादि का भय रहता है उन्हें अच्छी और कल्याणकारिणी समझते हुए भी बहुत-से लोग उनसे दूर रहते हैं। प्रत्यक्ष हानि देखते हुए भी कुछ प्रथाओं का अनुसरण बड़े-बड़े समझदार तक इसी लिए करते चलते हैं कि उनके त्याग से वे बुरे कहे जायंगे, लोगों में उनका वैसा आदर-सम्मान न रह जायगा। उनके लिए मानग्लानि का कष्ट सब शारीरिक क्लेशों से बढ़कर होता है। जो लोग मान-अपमान का कुछ भी ध्यान न करके, निंदा-स्तुति की कुछ भी परवा न करके किसी प्रचलित प्रथा के विरुद्ध पूर्ण तत्परता और प्रसन्नता के साथ कार्य करते जाते हैं वे एक ओर तो उत्साही और वीर कहलाते हैं, दूसरी ओर भारी बेहया।

किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रखकर निंदा-स्तुति, मान-अपमान आदि की कुछ परवा न करके प्रचलित प्रथाओं का उल्लंघन करनेवाले वीर या उत्साही कहलाते हैं, यह देखकर बहुत-से लोग केवल इस विरुद के लोभ में ही अपनी उछल कूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही या साहसी कहे जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की धूम मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम से उनसे कोई मतलब नहीं ; उसकी ओर उनका ध्यान लेश मात्र नहीं रहता। जिस पक्ष के बीच की सुख्याति का वे अधिक महत्त्व समझते हैं उसकी वाहवाही से उत्पन्न आनंद की चाह में वे दूसरे पक्ष के बीच की निंदा या अपमान की कुछ परवा नहीं करते। ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की अपेक्षा उन लोगों का उत्साह

या साहस—भाव की दृष्टि से—कहीं अधिक मूल्यवान् है जो किसी प्राचीन प्रथा की—चाहे वह वास्तव में हानिकारिणी ही हो—उपयोगिता का सच्चा विश्वास रखते हुए प्रथा तोड़नेवालों की निंदा, उपहास, अपमान आदि सहा करते हैं।

समाज-सुधार के वर्त्तमान आंदोलनों के बीच जिस प्रकार सच्ची अनुभूति से प्रेरित उच्चाशय और गंभीर पुरुष पाए जाते हैं उसी प्रकार तुच्छ मनोवृत्तियों-द्वारा प्रेरित साहसी और दयावान् भी बहुत मिलते हैं। मैंने कई छिछोरों और लंपटों को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के बड़े लंबे-चौड़े दास्तान हर दम सुनतेसुनाते पाया है। ऐसे लोग वास्तव में काम-कथा के रूप में ऐसे वृत्तांतों का तन्मयता के साथ कथन और श्रवण करते हैं। इस ढांचे के लोगों से सुधार के कार्य में कुछ सहायता पहुंचने के स्थान पर बाधा पहुंचने ही की संभावना रहती है। 'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे लोग गंदगी फैलाते पाए जाते हैं।

उत्साह की गिनती अच्छे गुणों में होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह जो कर्तव्य कर्मों के प्रति इतना सुंदर दिखाई पड़ता है, अकर्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्मरक्षा, पर-रक्षा, देश-रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है उसके सौंदर्य्य को पर-पीड़न डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुंच सकता। यह बात होते हुए भी विशुद्ध उत्साह या साहस की प्रशंसा संसार में थोड़ी बहुत होती ही है। अत्याचारियों या डाकुओं के शौर्य और साहस की कथाएं भी लोग तारीफ करते हुए सुनते हैं।

अब तक उत्साह का प्रधान रूप ही हमारे सामने रहा, जिसमें साहस का पूरा योग रहता है। पर कर्म मात्र के संपादन में जो तत्परतापूर्ण आनंद देखा जाता है वह भी उत्साह ही कहा जाता है। सब कामों में साहस अपेक्षित नहीं होता; पर थोड़े-बहुत आराम, विश्राम, सुभीते इत्यादि का त्याग सबमें करना पड़ता है; और कुछ नहीं तो उठकर बैठना, खड़ा होना या दस-पांच क़दम चलना ही पड़ता है। जब तक आनंद का लगाव किसी क्रिया, व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई पड़ता तब तक उसे 'उत्साह' की संज्ञा प्राप्त नहीं होती। यदि किसी

प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप ज्यों-के-त्यों आनंदित होकर बैठे रह जायं या थोड़ा हंस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ेंगे और उसके ठहरने आदि के प्रबंध में प्रसन्न-मुख इधर-उधर आते-जाते दिखाई देंगे। प्रयत्न और कर्म-संकल्प उत्साह नामक आनंद के नित्य लक्षण हैं।

प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग भी रहता है। कुछ कर्मों में तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ-साथ चलती हैं। उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ पैर चलवाती है उसी प्रकार बुद्धि से भी काम कराती है। ऐसे उत्साहवाले वीर को कर्म-वीर कहना चाहिए या बुद्धि-वीर,—यह प्रश्न मुद्राराक्षस-नाटक बहुत अच्छी तरह हमारे सामने लाता है। चाणक्य और राक्षस के बीच जो चोटें चलीं हैं वे नीति की हैं—शस्त्र की नहीं। अत: विचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि-व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि-द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में। हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है ; अत: कर्म-वीर ही कहना ठीक है।

बुद्धि-वीर के दृष्टांत कभी-कभी हमारे पुराने ढंग के शास्त्रार्थों में देखने को मिल जाते हैं। जिस समय किसी भारी शास्त्रार्थी पंडित से भिड़ने के लिए कोई विद्यार्थी आनंद के साथ सभा में आगे आता है उस समय उसके बुद्धि-साहस की प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते या हारे, बुद्धि-वीर समझा ही जाता है। इस ज़माने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायगी। ये वाग्वीर आज-कल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाए जाते हैं और काफ़ी तादाद में।

थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्साह में ध्यान किसपर रहता है—कर्म पर, उसके फल पर अथवा व्यक्ति या वस्तु पर। हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अंत तक पूरी कर्म-शृंखला पर से होता हुआ उसकी सफलता-रूपी समाप्ति तक फैला रहता है। इसी ध्यान से जो आनंद की तरंगे उठती

हैं वे ही सारे प्रयत्न को आनंदमय कर देती हैं। युद्ध-वीर में विजेतव्य जो आलंबन कहा गया है उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य कर्म-प्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थित रहता है। वह कर्म के स्वरूप का भी निर्धारण करता है। पर आनंद और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव उसके साथ नहीं रहता। सच पूछिए तो वीर के उत्साह का विषय विजय-विधायक कर्म या युद्ध ही रहता है। दान-वीर, दया-वीर और धर्म्म-वीर पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दान दया-वश, श्रद्धा-वश या कीर्त्ति-लोभ-वश दिया जाना है। यदि श्रद्धा-वश दान दिया जा रहा है तो दान-पात्र वास्तव में श्रद्धा का और यदि दया-वश दिया जा रहा है तो पीड़ित यथार्थ में दया का विषय या आलंबन ठहरता है। अतः उस श्रद्धा या दया की प्रेरणा से जिस कठिन या दुस्साध्य कर्म की प्रवृत्ति होती है उत्साही का साहसपूर्ण आनंद उसी की ओर उन्मुख कहा जा सकता है। अतः और रसों में आलंबन का स्वरूप जैसा निर्दिष्ट रहता है वैसा वीर-रस में नहीं। बात यह है कि उत्साह एक यौगिक भाव है जिसमें साहस और आनंद का मेल रहता है।

जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई जाती है उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख उत्साह नामक भाव होता है। सारांश यह कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लांघने के लिए जिस उत्साह के साथ हनूमान् उठे हैं उसका कारण समुद्र नहीं,—समुद्र लांघने का विकट कर्म है। कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है,—वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।

किसी कर्म के संबंध में जहां आनंदपूर्ण तत्परता दिखाई पड़ी कि हम उसे उत्साह कह देते हैं। कर्म के अनुष्ठान में जो आनंद होता है उसका विधान तीन रूपों में दिखाई पड़ता है—

१। कर्म-भावना से उत्पन्न,

२। फल-भावना से उत्पन्न, और

३। आगंतुक, अर्थात् विषयांतर से प्राप्त।

इनमें कर्म-भावना-प्रसूत आनंद को ही सच्चे वीरों का आनंद समझना चाहिए, जिसमें साहस का योग प्रायः बहुत अधिक रहा करता है। सच्चा वीर जिस समय

मैदान में उतरता है उसी समय उसमें उतना आनंद भरा रहता है जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और फल के बीच या तो कोई अंतर होता ही नहीं या बहुत सिमटा हुआ होता है। इसी से कर्म की ओर वह उसी झोंक से लपकता है जिस झोंक से साधारण लोग फल की ओर लपका करते हैं। इसी कर्म-प्रवर्तक आनंद की मात्रा के हिसाब से शौर्य और साहस का स्फुरण होता है।

फल की भावना से उत्पन्न आनंद भी साधक कर्मों की ओर हर्ष और तत्परता के साथ प्रवृत्त करता है। पर फल का लोभ जहां प्रधान रहता है वहां कर्मविषयक आनंद उसी फल की भावना की तीव्रता और मंदता पर अवलंबित रहता है। उद्योग के प्रवाह के बीच जब-जब फल की भावना मंद पड़ती है—उसकी आशा कुछ धुंधली पड़ जाती है,—तब-तब आनंद की उमंग गिर जाती है और उसी के साथ उद्योग में भी शिथिलता आ जाती है। पर कर्म-भावना-प्रधान उत्साह बराबर एकरस रहता है। फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दुखी होता है; पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि कर्म-भावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल-भावना-प्रधान उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।

उत्साह वास्तव में कर्म और फल की मिली-जुली अनुभूति है जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है। यदि फल दूर ही पर दिखाई पड़े, उसकी भावना के साथ ही उसका लेश मात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ-साथ लगाव न मालूम हो तो हमारे हाथ-पांव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो। इससे कर्म-शृंखला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनंद की भी कुछ अनुभूति होने लगती है। यदि हमें यह निश्चय हो जाय कि अमुक स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो उस निश्चय के प्रभाव से हमारी यात्रा भी अत्यंत प्रिय हो जायगी। हम चल पड़ेंगे और हमारे अंगों की प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी। यही प्रफुल्लता कठिन-से-कठिन कर्मों के साधन में भी देखी जाती है। वे कर्म भी प्रिय हो जाते हैं और अच्छे लगने लगते हैं। जब तक फल तक पहुंचानेवाला कर्म-पथ अच्छा न लगेगा तब तक केवल फल का अच्छा

लगना कुछ नहीं। फल की इच्छा मात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जायगा वह अभावमय और आनंद-शून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा।

कर्म-रुचि-शून्य प्रयत्न में कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जाता है। मान लीजिए कि एक ऊंचे पर्वत के शिखर पर बिचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई हुई सीढ़ियां दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण-राशि के साथ एक प्रकार के मानसिक संयोग का अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अंग सचेष्ट हो गए तो उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में उसे आनंद मिलता जायगा, एक-एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ उस स्वर्ण-राशि तक पहुंचेगा। इस प्रकार उसके प्रयत्न-काल को भी फलप्राप्ति-काल के अंतर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छा मात्र ही उत्पन्न हीकर रह जायगी, तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुंच जायं। उसे एक-एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हारकर बैठ जाय या लड़खड़ाकर मुंह के बल गिर पड़े।

फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या बहुत सरल करना पड़े और फल बहुत-सा मिल जाय। श्रीकृष्ण ने कर्म-मार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया ; पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे ; चार आने रोज़ का अनुष्ठान कराके व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या क्या चाहने लगे। आसक्ति प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु में ही ठीक कही जा सकती है। कर्म सामने उपस्थित रहता है, इससे आसक्ति उसी में चाहिए ; फल दूर रहता है, इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य ही काफ़ी है।

जिस आनंद से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनंद कर्म करते समय तक बराबर चला चलता है उसी का नाम उत्साह है।

कर्म के मार्ग पर आनंद-पूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अंतिम फल तक न भी पहुंचे तो भी उसकी दशा कर्म न करनेवाले की अपेक्षा अधिकतर अवस्थाओं में अच्छी रहेगी ; क्योंकि एक तो कर्मकाल में उसका जितना जीवन बीता वह संतोष या आनंद में बीता उसके उपरांत फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने प्रयत्न नहीं किया। फल पहले से ही कोई बना-बनाया पदार्थ नहीं होता। अनुकूल प्रयत्नक्रम के अनुसार उसके एक एक अंग की योजना होती है। बुद्धि-द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार-परंपरा का नाम ही प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों के यहां से जब तक औषध ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता जाता है तब तक उसके चित्त में जो संतोष रहता है—प्रत्येक नए उपचार के साथ जो आनंद का उन्मेष होता रहता है—वह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में उसके जीवन का जितना अंश संतोष, आशा और उत्साह में बीता, अप्रयत्न की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख में कटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्मग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवन भर यह सोच-सोचकर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म में आनंद अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनंद भरा रहता है कि कर्ता को वे कर्म ही फल-स्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्म-वीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय ; बल्कि उसी समय से थोड़ा-थोड़ा करके मिलने लगता है जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।

कभी-कभी आनंद का मूल विषय तो कुछ और रहता है, पर उस आनंद के कारण एक ऐसी स्फूर्त्ति उत्पन्न होती है जो बहुत-से कामों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता और तत्परता को देख लोग कहते हैं कि वे काम

बड़े उत्साह से किए जा रहे हैं। यदि किसी मनुष्य को बहुत-सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं उन सबको वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ करता है। उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं। इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुख-प्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनंद, फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर, उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है। यदि हम किसी ऐसे उद्योग में लगे हैं जिससे आगे चलकर हमें बहुत लाभ या सुख की आशा है तो हम उस उद्योग को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, अन्य कार्यों में भी प्राय: अपना उत्साह दिखा देते हैं।

यह बात उत्साह ही में नहीं, अन्य मनोविकारों में भी बराबर पाई जाती है। यदि हम किसी बात पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात सीधी तरह भी पूछता है तो भी हम उसपर झुंझला उठते हैं। इस झुंझलाहट का न तो कोई निर्दिष्ट कारण होता है, न उद्देश्य। यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुंझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और क्रोध ही में रहना चाहते हैं। क्रोध को बनाए रखने के लिए हम उन बातों से भी क्रोध ही संचित करते हैं जिनसे दूसरी अवस्था में हम विपरीत भाव प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार यदि हमारा चित्त किसी विषय में उत्साहित रहता है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह दिखा देते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ रहता है तो हम बहुत से काम प्रसन्नता-पूर्वक करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी बात का विचार करके सलामसाधक लोग हाकिमों से मुलाक़ात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिज़ाज़ पूछ लिया करते हैं।

राजा भोज का सपना

वह कौन सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी राजा महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्त्ति तो सारे जगत् में व्याप रही है। बड़े

बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही कांप उठते और बड़े बड़े भूपति उसके पांव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और खजाना उसका सोने चांदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया। कोई उसके राज्य भर में भूखा न सोता और न कोई उघाड़ा रहने पाता। जो सत्तू मांगने आता उसे मोतीचूर मिलता और जो गजी चाहता उसे मलमल दी जाती। पैसे की जगह लोगों को अशर्फियां बांटता और मेह की तरह भिखारियों पर मोती बरसाता। एक एक श्लोक के लिये ब्राह्मणों को लाख लाख रुपया उठा देता और सवा लक्ष ब्राह्मणों को षट्रस भोजन कराके तब आप खाने बैठता। तीर्थयात्रा, स्नान, दान और व्रत उपवास में सदा तत्पर रहता। उसने बड़े बड़े चांद्रायण किए थे और बड़े बड़े जंगल पहाड़ छान डाले थे।

एक दिन शरद् ऋतु में संध्या के समय सुंदर फुलवाड़ी के बीच स्वच्छ पानी के कुंड के तीर, जिसमें कुमुद और कमलों के बीच जल-पक्षी कलोलें कर रहे थे, रत्नजटित सिंहासन पर कोमल तकिए के सहारे स्वस्थ चित्त बैठा हुआ वह महलों की—सुनहरी कलसियां लगी हुई—संगमर्मर की गुमजियों के पीछे से उदय होता हुआ पूर्णिमा का चंद्रमा देख रहा था और निर्जन एकांत होने के कारण मन ही मन में सोचता था कि "अहो! मैंने अपने कुल को ऐसा प्रकाशित किया जैसे सूर्य्य से इन कमलों का विकास होता है। क्या मनुष्य और क्या जीव-जंतु मैंने अपना सारा जन्म इन्हीं का भला करने में गंवाया और व्रत उपवास करते करते फूल से शरीर को कांटा बनाया। जितना मैंने दान किया उतना तो कभी किसी के ध्यान में भी न आया होगा। जो मैं ही नहीं तो फिर और कौन हो सकता है? मुझे अपने ईश्वर पर दावा है, वह अवश्य मुझे अच्छी गति देगा। ऐसा कब हो सकता है कि मुझे कुछ दोष लगे?"

इसी अर्से में चोबदार ने पुकारा—"चौधरी इंद्रदत्त निगाह रूबरू!" श्रीमहाराज सलामत भोज ने आंख उठाई, दीवान ने साष्टांग दंडवत की, फिर सम्मुख जा हाथ जोड़ यों निवेदन किया—"पृथ्वीनाथ, सड़क पर वे कुएं जिनके वास्ते आपने हुक्म दिया था बनकर तैयार हो गए हैं और आम के बाग भी सब जगह लग गए। जो

पानी पीता है आपको असीस देता है और जो उन पेड़ों की छाया में विश्राम करता है आपकी बढ़ती दौलत मनाता है।" राजा अति प्रसन्न हुआ और बोला कि "सुन मेरी अमलदारी भर में जहां जहां सड़कें हैं कोस कोस पर कुएं खोदवा के सदाव्रत बैठा दे और दुतरफा पेड़ भी जल्द लगवा दे।" इसी अर्से में दानाध्यक्ष ने आकर आशीर्वाद दिया और निवेदन किया—"धर्मावतार! वह जो पांच हजार ब्राह्मण हर साल जाड़े में रजाई पाते हैं सो डेवढ़ी पर हाजिर हैं।" राजा ने कहा—"अब पांच के बदले पचास हजार की मिला करे और रजाई की जगह शाल दुशाले दिए जावें।" दानाध्यक्ष दुशालों के लाने के वास्ते तोशेखाने में गया। इमारत के दरोगा ने आकर मुजरा किया और खबर दी कि "महाराज! उस बड़े मंदिर की जिसके जल्द बना देने के वास्ते सरकार से हुक्म हुआ है आज नींव खुद गई, पत्थर गढ़े जाते हैं और लुहार लोहा भी तैयार कर रहे हैं।" महाराज ने तिउरियां बदलकर उस दारोगा को खूब घुड़का "अरे मूर्ख, वहां पत्थर और लोहे का क्या काम है? बिलकुल मंदिर संगमर्मर और संगमूसा से बनाया जावे और लोहे के बदले उसमें सब जगह सोना काम में आवे जिसमें भगवान् भी उसे देखकर प्रसन्न हो जावें और मेरा नाम इस संसार में अतुल कीर्त्ति पावे।"

यह सुनकर सारा दरबार पुकार उठा कि "धन्य महाराज! क्यों न हो? जब ऐसे हो तब तो ऐसे हो। आपने इस कलिकाल को सतयुग बना दिया, मानों धर्म का उद्धार करने को इस जगत् में अवतार लिया। आज आपसे बढ़कर और दूसरा कौन ईश्वर का प्यारा है, हमने तो पहले ही से आपको साक्षात् धर्मराज विचारा है।" व्यासजी ने कथा आरंभ की, भजन-कीर्तन होने लगा। चांद सिर पर चढ़ आया। घड़ियाली ने निवेदन किया कि "महाराज! आधी रात के निकट है।" राजा की आंखों में नींद आ रही थी; व्यास कथा कहते थे पर राजा को ऊंघ आती थी। वह उठकर रनवास में गया।

जड़ाऊ पलंग और फूलों की सेज पर सोया। रानियां पैर दाबने लगीं। राजा की आंख झप गई तो स्वप्न में क्या देखता है कि वह बड़ा संगमर्मर का मंदिर बनकर बिलकुल तैयार हो गया, जहां कहीं उस पर नक्काशी का काम किया है वहां उसने बारीकी और सफाई में हाथीदांत

को भी मात कर दिया है, जहां कहीं पच्चीकारी का हुनर दिखलाया है वहां जवाहिरों को पत्थरों में जड़कर तसवीर का नमूना बना दिया है। कहीं लालों के गुलालों पर नीलम की बुलबुलें बैठी हैं और ओस की जगह हीरों के लोलक लटकाए हैं, कहीं पुखराजों की डंडियों से पन्ने के पत्ते निकालकर मोतियों के भुट्टे लगाए हैं। सोने की चोबों पर शामियाने और उनके नीचे बिल्लौर के हौज़ों में गुलाब और केवड़े के फुहारे छूट रहे हैं। मनों धूप जल रही है, सैकड़ों कपूर के दीपक बल रहे हैं। राजा देखते ही मारे घमंड के फूलकर मशक बन गया। कभी नीचे कभी ऊपर, कभी दाहिने कभी बाएं निगाह करता और मन में सोचता कि अब इतने पर भी मुझे क्या कोई स्वर्ग में घुसने से रोकेगा या पवित्र पुण्यात्मा न कहेगा? मुझे अपने कर्मों का भरोसा है; दूसरे किसी से क्या काम पड़ेगा।

इसी अर्से में वह राजा उस सपने के मंदिर में खड़ा खड़ा क्या देखता है कि एक ज्योति सी उसके सामने आसमान से उतरी चली आती है। उसका प्रकाश तो हजारों सूर्य्य से भी अधिक है, परंतु जैसे सूर्य्य को बादल घेर लेता है उस प्रकार उसने मुंह पर घूंघट सा डाल लिया है, नहीं तो राजा की आंखें कब उस पर ठहर सकती थीं; इस घूंघट पर भी वे मारे चकाचौंध के झपकी चली जाती थीं। राजा उसे देखते ही कांप उठा और लड़खड़ाती सी जबान से बोला कि हे महाराज! आप कौन हैं और मेरे पास किस प्रयोजन से आए हैं? उस पुरुष ने बादल की गरज के समान गंभीर उत्तर दिया कि मैं सत्य हूं, अंधों की आंखें खोलता हूं, मैं उनके आगे से धोखे की टट्टी हटाता हूं, मैं मृगतृष्णा के भटके हुओं का भ्रम मिटाता हूं और सपने के भूले हुओं को नींद से जगाता हूं। हे भोज! अगर कुछ हिम्मत रखता है तो आ हमारे साथ आ और हमारे तेज के प्रभाव से मनुष्यों के मन के मंदिरों का भेद ले, इस समय हम तेरे ही मन को जांच रहे हैं। राजा के जी पर एक अजब दहशत सी छा गई। नीची निगाह करके वह गर्दन खुजाने लगा। सत्य बोला, भोज! तू डरता है, तुझे अपने मन का हाल जानने में भी भय लगता है? भोज ने कहा—नहीं, इस बात से तो नहीं डरता क्योंकि जिसने अपने तईं नहीं जाना उसने फिर क्या जाना? सिवाय इसके मैं तो आप चाहता हूं कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह से जांचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने

अपना फूल सा शरीर कांटा बनाया, ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देते देते सारा खजाना खाली कर डाला, कोई तीर्थ बाकी न रखा, कोई नदी या तालाब नहाने से न छोड़ा, ऐसा कोई आदमी नहीं कि जिसकी निगाह में मैं पवित्र पुण्यात्मा न ठहरूं। सत्य बोला, "ठीक, पर भोज, यह तो बतला कि तू ईश्वर की निगाह में क्या है ? क्या हवा में बिना धूप त्रसरेणु कभी दिखलाई देते हैं ? पर सूर्य्य की किरण पड़ते ही कैसे अनगिनत चमकने लग जाते हैं ? क्या कपड़े से छाने हुए मैले पानी में किसी को कीड़े मालूम पड़ते हैं ? पर जब खुर्दबीन शीशे को लगाकर देखो तो एक एक बूंद में हजारों ही जीव सूझने लग जाते हैं। जो तू उस बात के जानने से जिसे अवश्य जानना चाहिए डरता नहीं तो आ मेरे साथ आ, मैं तेरी आंखें खोलूंगा।"

निदान सत्य यह कह राजा को उस बड़े मंदिर के ऊंचे दर्वाज़े पर चढ़ा ले गया जहां से सारा बाग दिखलाई देता था और फिर वह उससे यों कहने लगा कि भोज, मैं अभी तेरे पापकर्मों की कुछ भी चर्चा नहीं करता, क्योंकि तूने अपने तईं निरा निष्पाप समझ रखा है, पर यह तो बतला कि तूने पुण्य-कर्म कौन कौन से किए हैं कि जिनसे सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर संतुष्ट होगा। राजा यह सुनके अत्यंत प्रसन्न हुआ। यह तो मानों उसके मन की बात थी। पुण्यकर्म के नाम ने उसके चित्त को कमल सा खिला दिया। उसे निश्चय था कि पाप तो मैंने चाहे किया हो चाहे न किया हो, पर पुण्य मैंने इतना किया है कि भारी से भारी पाप भी उसके पासंग में न ठहरेगा। राजा को वहां उस समय सपने में तीन पेड़ बड़े ऊंचे अपनी आंख के सामने दिखाई दिए। फलों से वे इतने लदे हुए थे कि मारे बोझ के उनकी टहनियां धरती तक झुक गई थीं। राजा उन्हें देखते ही हरा हो गया और बोला कि सत्य, यह ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया अर्थात् ईश्वर और मनुष्य दोनों की प्रीति के पेड़ हैं, देख फलों के बोझ से ये धरती पर नए हैं। ये तीनों मेरे ही लगाए हैं पहले में तो वे सब लाल लाल फल मेरे दान से लगे हैं और दूसरे में वे पीले पीले मेरे न्याय से और तीसरे में ये सब सफेद फल मेरे तप का प्रभाव दिखाते हैं। मानों उस समय यह ध्वनि चारों ओर से राजा के कानों में चली आती थी कि धन्य हो ! आज तुम सा पुण्यात्मा दूसरा कोई नहीं, तुम साक्षात् धर्म के अवतार हो, इस लोक में भी तुमने बडा पद पाया है और उस लोक में भी इससे अधिक मिलेगा,

तुम मनुष्य और ईश्वर दोनों की आंखों में निर्दोष और निष्पाप हो। सूर्य्य के मंडल में लोग कलंक बतलाते हैं पर तुम पर एक छींटा भी नहीं लगाते।

सत्य बोला कि "भोज, जब मैं इन पेंड़ों के पास था जिन्हें तू ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया के बतलाता है तब तो इनमें फल-फूल कुछ भी नहीं थे, ये निरे ठूंठ से खड़े थे। ये लाल, पीले और सफेद फल कहां से आ गए? ये सचमुच उन पेडों में फल लगे हैं या तुझे फुसलाने और वश करने को किसी ने उनकी टहनियों से लटका दिये हैं? चल, उन पेड़ों के पास चलकर देखें तो सही। मेरी समझ में तो ये लाल लाल फल जिन्हें तू अपने दान के प्रभाव से लगे बतलाता है यश और कीर्त्ति फैलाने की चाह अर्थात् प्रशंसा पाने की इच्छा ने इस पेड़ में लगाए हैं।" निदान ज्योंही सत्य ने उस पेड़ के छूने को हाथ बढ़ाया, राजा सपने में क्या देखता है कि वे सारे फल जैसे आस्मान से ओले गिरते हैं एक आन की आन में धरती पर गिर पड़े। धरती सारी लाल हो गई; पेड़ों पर सिवाय पत्तों के और कुछ न रहा। सत्य ने कहा कि "राजा, जैसे कोई किसी चीज को मोम से चिपकाता है उसी तरह तूने अपने भुलाने को प्रशंसा की इच्छा से ये फल इस पेड़ पर लगा लिए थे। सत्य के तेज से यह मोम गल गया, पेड़ ठूंठ का ठूंठ रह गया। जो तूने दिया और किया सब दुनिया के दिखलाने और मनुष्यों से प्रशंसा पाने के लिये, केवल ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से तो कुछ भी नहीं दिया। यदि कुछ दिया हो या किया हो तो तूही क्यों नहीं बतलाता। मूर्ख, इसी के भरोसे पर तू फूला हुआ स्वर्ग में जाने को तैयार हुआ था।"

भोज ने एक ठंढी सांस ली। उसने तो औरों को भूला समझा था पर वह सबसे अधिक भूला हुआ निकला। सत्य ने उस पेड़ की तरफ हाथ बढ़ाया जो सोने की तरह चमकते हुए पीले पीले फलों से लदा हुआ था। सत्य बोला, "राजा ये फल तूने अपने भुलाने को, स्वर्ग की स्वार्थसिद्धि करने की इच्छा से लगा लिए थे। कहनेवाले ने ठीक कहा है कि मनुष्य मनुष्य के कर्मों से उसके मन की भावना का विचार करता है और ईश्वर मनुष्य के मन की भावना के अनुसार उसके कर्मों का हिसाव लेता है। तू अच्छी तरह जानता है कि यही न्याय तेरे राज्य की जड़ है। जो न्याय न करे तो फिर यह राज्य तेरे हाथ में क्योंकर रह सके। जिस राज्य में न्याय नहीं वह तो बे-नींव का घर है, बुढ़िया के दांवों की तरह हिलता है, अब गिरा तब गिरा।

मूर्ख, तू ही क्यों नहीं बतलाता कि यह तेरा न्याय स्वार्थ सिद्ध करने और सांसारिक सुख पाने की इच्छा से है अथवा ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से ? ''

भोज की पेशानी पर पसीना हो आया, उसने आंखें नीची कर लीं, उससे जवाब कुछ न बन पड़ा। तीसरे पेड़ की बारी आई। सत्य का हाथ लगते ही उसकी भी वही हालत हुई। राजा अत्यंत लज्जित हुआ। सत्य ने कहा कि "मूर्ख ! ये तेरे तप के फल कदापि नहीं, इनको तो इस पेड़ पर तेरे अहंकार ने लगा रखा था। वह कौन सा व्रत व तीर्थयात्रा है जो तूने निरहंकार केवल ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से की हो ? तूने यह तप केवल इसी वास्ते किया कि जिसमें तू अपने तईं औरों से अच्छा और बढ़कर विचारे। ऐसे ही तप पर गोबर-गनेस, तू स्वर्ग मिलने की उम्मेद रखता है ? पर यह तो बतला कि मंदिर के उन मुंडेरों पर वे जानवर से क्या दिखलाई देते हैं ; कैसे सुंदर और प्यारे मालूम होते हैं। पर तो उनके पन्ने के हैं और गर्दन फ़िरोजे की, दुम में सारे किस्म के जवाहिरात जड़ दिए हैं।" राजा के जी में घमंड की चिड़िया ने फिर फुरफुरी ली, मानों बुझते हुए दीये की तरह वह जगमगा उठा। जल्दी से उसने जवाब दिया कि "हे सत्य, यह जो कुछ तू मंदिर की मुंडेरों पर देखता है मेरे संध्यावंदन का प्रभाव है। मैंने जो रातों जाग जागकर और माथा रगड़ते रगड़ते इस मंदिर की देहली को घिसकर ईश्वर की स्तुति वंदना और विनती प्रार्थना की है वे ही अब चिड़ियों की तरह पंख फैलाकर आकाश को जाती हैं, मानों ईश्वर के सामने पहुंचकर अब मुझे स्वर्ग का राजा बनाती हैं।" सत्य ने कहा कि राजा, दीनबंधु करुणासागर श्रीजगन्नाथ जगदीश्वर अपने भक्तों की विनती सदा सुनता रहता है और जो मनुष्य शुद्ध-हृदय और निष्कपट होकर नम्रता और श्रद्धा के साथ अपने दुष्कर्मों का पश्चात्ताप अथवा उनके क्षमा होने का टुक भी निवेदन करता है वह उसका निवेदन उसी दम सूर्य्य चांद को बेधकर पार हो जाता है, फिर क्या कारण कि ये सब अब तक मंदिर के मुंडेरे पर बैठे रहे ? आ चल, देखें तो सही हम लोगों के पास जाने पर आकाश की उड़ जाते हैं या उसी जगह पर परकटे कबूतरों की तरह फड़फड़ाया करते हैं।

भोज डरा लेकिन उसने सत्य का साथ न छोड़ा। जब वह मुंडेरे पर पहुंचा तो क्या देखता है कि वे सारे जानवर जो दूर से ऐसे सुंदर दिखलाई देते थे मरे हुए

पड़े हैं ; पंख नुचे खुचे और बहुतेरे बिलकुल सड़े हुए, यहां तक कि मारे बदबू के राजा का सिर भिन्ना उठा। दो एक ने, जिनमें कुछ दम बाकी था, जो उड़ने का इरादा भी किया तो उनका पंख पारे की तरह भारी हो गया और उसने उन्हें उसी ठौर दबा रखा। वे तड़फा जरूर कए, पर उड़ जरा भी न सके। सत्य बोला "भोज, बस यही तेरे पुण्यकर्म हैं, इसी स्तुति वंदना और विनती प्रार्थना के भरोसे पर तू स्वर्ग में जाया चाहता है। सूरत तो इनकी बहुत अच्छी है पर जान बिलकुल नहीं। तूने जो कुछ किया केवल लोगों के दिखलाने को, जी से कुछ भी नहीं। जो तू एक बार भी जी से पुकारा होता कि 'दीनबंधु दीननाथ दीनहितकारी ! मुझ पापी महा अपराधी डूबते हुए को बचा और कृपादृष्टि कर' तो वह तेरी पुकार तीर की तरह तारों से पार पहुंची होती।" राजा ने सिर नीचा कर लिया, उससे उत्तर कुछ न बन आया। सत्य ने कहा कि "भोज ! अब आ, फिर इस मंदिर के अंदर चलें और वहां तेरे मन के मंदिर को जांचें। यद्यपि मनुष्य के मन के मंदिर में ऐसे ऐसे अंधेरे तहखाने और तलघरे पड़े हुए हैं कि उनको सिवाय सर्वदर्शी घट घट अंतर्यामी सकल जगत्स्वामी के और कोई भी नहीं देख अथवा जांच सकता, तो भी तेरा परिश्रम व्यर्थ न जायगा।"

राजा सत्य के पीछे खिंचा खिंचा फिर मंदिर के अंदर घुसा, पर अब तो उसका हाल ही कुछ से कुछ हो गया। सचमुच सपने का खेल सा दिखलाई दिया। चांदी की सारी चमक जाती रही, सोने की बिलकुल दमक उड़ गई, सोने में लोहे की तरह मोर्चा लगा हुआ, जहां जहां से मुलम्मा उड़ गया था भीतर का ईंट-पत्थर कैसा बुरा दिखलाई देता था। जवाहिरों की जगह केवल काले काले दाग रह गए थे, और संगमर्मर की चट्टानों में हाथ हाथ भर गहरे गढ़े पड़ गए थे। राजा यह देखकर भौचक्का सा रह गया, औसान जाते रहे, हक्काबक्का बन गया। उसने धीमी आवाज से पूछा कि ये टिडडीदल की तरह इतने दाग इस मंदिर में कहां से आए ? जिधर मैं निगाह उठाता हूं सिवाय काले काले दागों के और कुछ भी नहीं दिखलाई देता। ऐसा तो छीपी छींट भी नहीं छापेगा और न शीतला से बिगड़ा किसी का चेहरा ही देख पड़ेगा। सत्य बोला कि "राजा ये दाग जो तुझे इस मंदिर में दिखलाई देते हैं दुर्वचन हैं जो दिन-रात तेरे मुख से निकला किए हैं। याद तो कर, तूने क्रोध में आकर कैसी कड़ी कड़ी बातें लोगों को सुनाई हैं।

क्या खेल में और क्या अपना अथवा दूसरे का चित्त प्रसन्न करने की, क्या रुपया बचाने अथवा अधिक लाभ पाने को और दूसरे का देश अपने हाथ में लाने अथवा किसी बराबरवाले से अपना मतलब निकालने और दुश्मनों को नीचा दिखलाने को तैंने कितना झूठ बोला है। अपने ऐब छिपाने और दूसरे की आंखों में अच्छा मालूम होने अथवा झूठी तारीफ पाने के लिये तैंने कैसी कैसी शेखियां हांकी हैं और अपने को औरों से अच्छा और औरों को अपने से बुरा दिखलाने को कहां तक बातें बनाई हैं सो क्या अब कुछ भी याद न रहा, बिलकुल एकबारगी भूल गया? पर वहां तो वे तेरे मुंह से निकलते ही बही में दर्ज हुई। तू इन दागों के गिनने में असमर्थ है पर उस घट-घट-निवासी अनंत-अविनाशी को एक एक बात जो तेरे मुंह से निकली है याद है और याद रहेगी। उसके निकट भूत और भविष्य वर्तमान सा है।"

भोज ने सिर न उठाया पर उसी दबी जबान से इतना मुंह से और निकाला कि दाग तो दाग पर ये हाथ हाथ भर के गढ़े क्योंकर पड़ गए, सोने चांदी में मोर्चा लगकर ये ईंट पत्थर कहां से दिखलाई देने लगे? सत्य ने कहा कि "राजा क्या तूने कभी किसी को कोई लगती हुई बात नहीं कही अथवा बोली ठोली नहीं मारी? अरे नादान, यह बोली ठोली तो गोली से अधिक काम कर जाती है, तू तो इन गढ़ों ही को देखकर रोता है पर तेरे ताने तो बहुतों की छातियों से पार हो गए। जब अहंकार का मोर्चा लगा तो फिर यह देखलावे का मुलम्मा कब तक ठहर सकता है! स्वार्थ और अश्रद्धा का ईंट-पत्थर प्रकट हो गया।" राजा को इस अर्से में चिमगादड़ों ने बहुत तंग कर रखा था। मारे बू के सिर फटा जाता था। भुनगों और पतंगों से सारा मकान भर गया था, बीच बीच में पंखवाले सांप और बिच्छू भी दिखलाई देते थे। राजा घबराकर चिल्ला उठा कि यह मैं किस आफत में पड़ा, इन कमबख्तों को यहां किसने आने दिया? सत्य बोला "राजा सिवाय तेरे इनको यहां और कौन आने देगा? तू ही तो इन सबको लाया। ये सब तेरे मन की बुरी वासनाएं हैं। तूने समझा था कि जैसे समुद्र में लहरें उठा और मिटा करती हैं उसी तरह मनुष्य के मन में भी संकल्प की मौजें उठकर मिट जाती हैं। पर रे मूढ़! याद रख, कि आदमी के चित्त में ऐसा सोच-विचार कोई नहीं आता जो जगकर्त्ता प्राणदाता परमेश्वर के सामने प्रत्यक्ष नहीं हो जाता। ये चिमगादड़ और भुनगे और सांप बिच्छू और कीड़े मकोड़े जो तुझे दिखलाई देते हैं वे सब काम,

क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, अभिमान, मद, ईर्ष्या के संकल्प-विकल्प हैं जो दिनरात तेरे अंतःकरण में उठा किए और इन्हों चिमगादड़ और भुनगों और सांप बिच्छू और कीड़े मकीड़ों की तरह तेरे हृदय के आकाश में उड़ते रहे। क्या कभी तेरे जी में किसी राजा की ओर से कुछ द्वेष नहीं रहा या उसके मुल्क माल पर लोभ नहीं आया या अपनी बड़ाई का अभिमान नहीं हुआ या दूसरे की सुंदर स्त्री देखकर उस पर दिल न चला?"

राजा ने एक बड़ी लंबी ठंडी सांस ली और अत्यंत निराश होके यह बात कही कि इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो कह सके कि मेरा हृदय शुद्ध और मन में कुछ भी पाप नहीं। इस संसार में निष्पाप रहना बड़ा ही कठिन है। जो पुण्य करना चाहते हैं उनमें भी पाप निकल आता है। इस संसार में पाप से रहित कोई भी नहीं, ईश्वर के सामने पवित्र पुण्यात्मा कोई भी नहीं। सारा मंदिर वरन् सारी धरती, आकाश गूंज उठा "कोई भी नहीं, कोई भी नहीं।" सत्य ने जो आंख उठाकर उस मंदिर की एक दीवार की ओर देखा तो उसी दम संगमर्मर से आईना बन गया। उसने राजा से कहा कि अब टुक इस आईने का भी तमाशा देख और जो कर्त्तव्य कर्मों के न करने से तुझे पाप लगे हैं उनका भी हिसाब ले। राजा उस आईने में क्या देखता है कि जिस प्रकार बरसात की बढ़ी हुई किसी नदी में जल के प्रवाह बहे जाते हैं उसी प्रकार अनगिनत सूरतें एक ओर से निकलती और दूसरी ओर अलोप होती चली जाती हैं। कभी तो राजा को वे सब भूखे और नंगे इस आईने में दिखलाई देते जिन्हें राजा खाने पहनने को दे सकता था पर न देकर दान का रुपया उन्हीं हट्टे कट्टे मोटे मुसंड खाते पीतों को देता रहा, जो उसकी खुशामद करते थे या किसी की सिफारिश ले आते थे या उसके कारदारों को घूस देकर मिला लेते थे या सवारी के समय मांगते मांगते और शोर गुल मचाते मचाते उसे तंग कर डालते थे या दर्बार में आकर उसे लज्जा के भंवर में गिरा देते थे या झूठा छापा तिलक लगाकर उसे मक्र के जाल में फंसा लेते थे या जन्मपत्र के भले बुरे ग्रह बतलाकर कुछ धमकी भी दिखला देते थे या सुंदर कवित्त और श्लोक पढ़कर उसके चित्त को लुभाते थे। कभी वे दीन दुखी दिखलाई देते जिन पर राजा के कारदार जुल्म किया करते थे और उसने कुछ भी उसकी तहकीकात और उपाय न किया। कभी उन बीमारों को देखता जिनका चंगा

करा देना राजा के अख्तियार में था, कभी वे व्यथा के जले और विपत्ति के मारे दिखलाई देते जिनका जी राजा के दो बात कहने से ठंढा और संतुष्ट हो सकता था। कभी अपने लड़के लड़कियों को देखता था जिन्हें वह पढ़ा लिखाकर अच्छी अच्छी बातें सिखाकर बड़े बड़े पापों से बचा सकता था। कभी उन गांव और इलाकों को देखता जिनमें कुएं तालाब और किसानों को मदद देने और उन्हें खेती बारी की नई नई तर्कीबें बतलाने से हजारों गरीबों का भला कर सकता था। कभी उन टूटे हुए पुल और रास्तों को देखता जिन्हें दुरुस्त करने से वह लाखों मुसाफिरों को आराम पहुंचा सकता था।

राजा से अधिक देखा न जा सका, थोड़ी देर में घबराकर हाथों से उसने अपनी आंखें ढांप ली। वह अपने घमंड में उन सब कामों को तो सदा याद रखता था और उनकी चर्चा किया करता जिन्हें वह अपनी समझ में पुण्य के निमित्त किए हुए समझता था, पर उसने उन कर्त्तव्य कामों का कभी टुक सोच न किया जिन्हें अपनी उन्मत्तता से अचेत होकर छोड़ दिया था। सत्य बोला "राजा अभी से क्यों घबरा गया? आ इधर आ, इस दूसरे आईने में तुझे अब उन पापों को दिखलाता हूं जो तूने अपनी उमर में किए हैं।" राजा ने हाथ जोड़ा और पुकारा कि "बस महाराज, बस कीजिए, जो कुछ देखा उसी में मैं तो मिट्टी हो गया, कुछ भी बाकी न रहा, अब आगे क्षमा कीजिए। पर यह बतलाइए कि आपने यहां आकर मेरे शर्बत में क्यों ज़हर घोला और पकी पकाई खीर में सांप का विष उगला और मेरे आनंद को इस मंदिर में आकर नाश में मिलाया जिसे मैंने सर्वशक्तिमान् भगवान् के अर्पण किया है? चाहे जैसा यह बुरा और अशुद्ध क्यों न हो पर मैंने तो उसी के निमित्त बनाया है।" सत्य ने कहा "ठीक, पर यह तो बतला कि भगवान् इस मंदिर में बैठा है? यदि तूने भगवान् को इस मंदिर में बिठाया होता तो फिर वह अशुद्ध क्यों रहता! ज़रा आंख उठाकर उस मूर्त्ति को तो देख जिसे तू जन्म भर पूजता रहा है।"

राजा ने जो आंख उठाई तो क्या देखता है कि वहां उस बड़ी ऊंची वेदी पर उसी की मूर्त्ति पत्थर की गढ़ी हुई रखी है और अभिमान की पगड़ी बांधे हुए है। सत्य ने कहा कि "मूर्ख, तूने जो काम किए केवल अपनी प्रतिष्ठा के लिये। इसी प्रतिष्ठा के प्राप्त होने की तेरी भावना रही है और इसी प्रतिष्ठा के लिये तूने अपनी

आप पूजा की । रे मूर्ख, सकल जगत्स्वामी घट-घट-अंतर्यामी, क्या ऐसे मनरूपी मंदिरों में भी अपना सिंहासन बिछने देता है, जो अभिमान और प्रतिष्ठाप्राप्ति की इच्छा इत्यादि से भरा है ? यह तो उसकी बिजली पड़ने के योग्य है ।" सत्य का इतना कहना था कि सारी पृथिवी एकबारगी कांप उठी, मानों उसी दम टुकड़ा टुकड़ा हुआ चाहती थी, आकाश में ऐसा शब्द हुआ कि जैसे प्रलयकाल का मेघ गरजा । मंदिर की दीवारें चारों ओर से अड़अड़ाकर गिर पड़ीं, मानों उस पापी राजा को दबा ही लेना चाहती थीं । उस अहंकार की मूर्त्ति पर एक ऐसी बिजली गिरी कि वह धरती पर औंधे मुंह आ पड़ी । 'त्राहि माम्, त्राहि माम्, मैं डूबा,' कहके भोज जो चिल्लाया तो आंख उसकी खुल गई और सपना सपना हो गया ।

इस अर्से में रात बीतकर आसमान के किनारों पर लाली दौड़ आई थी, चिड़ियां चहचहा रही थीं, एक ओर से शीतल मंद सुगंध पवन चली आती थी, दूसरी ओर से बीन और मृदंग की ध्वनि । बंदीजन राजा का यश गाने लगे, हर्कारे हर तरफ काम को दौड़े, कमल खिले, कुमुद कुम्हलाए । राजा पलंग से उठा पर जी भारी, माथा थामे हुए, न हवा अच्छी लगती थी, न गाने बजाने की कुछ सुध-बुध थी । उठते ही पहले उसने यह हुक्म दिया कि "इस नगर में जो अच्छे से अच्छे पंडित हों जल्द उनको मेरे पास लाओ । मैंने एक सपना देखा है कि जिसके आगे अब यह सारा खटराग सपना मालूम होता है । उस सपने के स्मरण ही से मेरे रोंगटे खड़े हुए जाते हैं ।" राजा के मुख से हुक्म निकलने की देर थी, चोबदारों ने तीन पंडितों को जो उस समय वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य और बृहस्पति के समान प्रख्यात थे, बात की बात में राजा के सामने ला खड़ा किया । राजा का मुंह पीला पड़ गया था, माथे पर पसीना हो आया था । उसने पूछा कि "वह कौन सा उपाय है जिससे यह पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पावे ?" उनमें से एक बड़े बूढ़े पंडित ने आशीर्वाद देकर निवेदन किया कि "धर्मराज धर्मावतार, यह भय तो आपके शत्रुओं को होना चाहिए । आपसे पवित्र पुण्यात्मा के जी में ऐसा संदेह क्यों उत्पन्न हुआ ? आप अपने पुण्य के प्रभाव का जामा पहन के बेखटके परमेश्वर के सामने जाइए, न तो वह कहीं से फटा कटा है और न किसी जगह से मैला कुचैला है ।" राजा क्रोध करके बोला कि "बस अपनी वाणी को अधिक परिश्रम न दीजिए और इसी दम अपने घर की राह लीजिए । क्यों आप फिर

उस पर्दे को डाला चाहते हैं जो सत्य ने मेरे सामने से हटाया है ? बुद्धि की आंखों को बंद किया चाहते हैं जिन्हें सत्य ने खोला है ? उस पवित्र परमात्मा के सामने अन्याय कभी नहीं ठहर सकता। मेरे पुण्य का जामा उसके आगे निरा चीथड़ा है। यदि वह मेरे कामों पर निगाह करेगा तो नाश हो जाऊंगा, मेरा कहीं पता भी न लगेगा।"

इतने में दूसरा पंडित बोल उठा कि "महाराज परब्रह्म परमात्मा जो आनंद-स्वरूप है उसकी दया के सागर का कब किसी ने वारापार पाया है. वह क्या हमारे इन छोटे छोटे कामों पर निगाह किया करता है, वह कृपा-दृष्टि से सारा बेड़ा पार लगा देता है।" राजा ने आंखे दिखलाके कहा कि "महाराज ! आप भी अपने घर को सिधारिए। आपने ईश्वर को ऐसा अन्यायी ठहरा दिया है कि वह किसी पापी को सजा नहीं देता, सब धान बाईस पसेरी तोलता है, मानों हरबोंगपुर का राज करता है। इसी संसार में क्यों नहीं देख लेते जो आम बोता है वह आम खाता है और जो बबूल लगाता है वह कांटे चुनता है। क्या उस लोक में जो जैसा करेगा सर्वदर्शी घट-घट-अंतर्यामी से उसका बदला वैसा ही न पावेगा ? सारी सृष्टि पुकारे कहती है, और हमारा अंतःकरण भी इस बात की गवाही देता है कि ईश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा ; जो जैसा करेगा वैसा ही उससे उसका बदला पावेगा।"

तब तीसरा पंडित आगे बढ़ा और उसने यों ज़बान खोली कि "महाराज ! परमेश्वर के यहां हम लोगों को वैसा ही बदला मिलेगा कि जैसा हम लोग काम करते हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं, आप बहुत यथार्थ फ़र्माते हैं। परमेश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा, पर वे इतने प्रायश्चित्त और होम और यज्ञ और जप, तप, तीर्थयात्रा किस लिये बनाए गए हैं ? वे इसी लिये हैं कि जिसमें परमेश्वर हम लोगों का अपराध क्षमा करे और वैकुंठ में अपने पास रहने की ठौर देवे।" राजा ने कहा "देवताजी, कल तक तो मैं आपकी सब बात मान सकता था लेकिन अब तो मुझे इन कामों में भी ऐसा कोई दिखलाई नहीं देता जिसके करने से यह पापी मनुष्य पवित्र पुण्यात्मा हो जावे। वह कौन सा जप, तप, तीर्थयात्रा, होम, यज्ञ और प्रायश्चित्त है जिसके करने से हृदय शुद्ध हो और अभिमान न आ जावे ? आदमी

को फुसला लेना तो सहज है पर उस घट घट के अंतर्यामी को क्योंकर फुसलावे ! जब मनुष्य का मन ही पाप से भरा हुआ है तो फिर उससे पुण्य कर्म कोई कहां से बन आवे। पहले आप उस स्वप्न को सुनिए जो मैंने रात को देखा है तब फिर पीछे वह उपाय बतलाइए जिससे पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पाता है।"

निदान राजा ने जो कुछ स्वप्न रात में देखा था, सब ज्यों का त्यों उस पंडित को कह सुनाया। पंडित जी तो सुनते ही अवाक् हो गए, उन्होंने सिर झुका लिया। राजा ने निराश होकर चाहा कि तुषानल में जल मरे पर एक परदेशी आदमी सा, जो उन पंडितों के साथ बिना बुलाए घुस आया था, सोचता विचारता उठकर खड़ा हुआ और धीरे से यों निवेदन करने लगा—"महाराज, हम लोगों का कर्त्ता ऐसा दीनबंधु कृपासिंधु है कि अपने मिलने की राह आप ही बतला देता है, आप निराश न हूजिए पर उस राह को ढूंढ़िए। आप इन पंडितों के कहने में न आइए पर उसी से उस राह के पाने की सच्चे जी से मदद मांगिए।" हे पाठक जनो ! क्या तुम भी भोज की तरह ढूंढ़ते हो और भगवान् से उस राह के मिलने की प्रार्थना करते हो ? भगवान् तुम्हें ऐसी बुद्धि दे और अपनी राह पर चलावे, यही हमारे अंतःकरण का आशीर्वाद है।

जिन ढूंढ़ा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ।

भीष्माष्टमी*

हमारे पाठक कदाचित् जानते होंगे कि गत रविवार को भीष्माष्टमी थी। यह वह दिवस था जिस दिन कुरुक्षेत्र की रणभूमि में शरशय्या पर लेटे हुये पितामह भीष्म जी ने अपनी इच्छा से अपने शरीर का त्याग किया था।

संसार के इतिहास में महात्मा भीष्म के समान दूसरा चरित्र मिलना कठिन है। यदि समानता दिखलाई भी पड़ेगी तो केवल भारतवर्ष के इतिहास में। घोर संग्राम और भी स्थानों में हुये हैं। यूरुप में यूनान देश और ट्राय देश के

---

* माघ शुक्ल १२ सं० १९६४ के 'अभ्युदय' पत्र से उद्धृत।

रहनेवालों की लड़ाई प्रसिद्ध है। परन्तु भारतवर्ष के वीरों और यूनान और ट्राय के वीरों में बड़ा ही अन्तर है। ऐकिलीज़, हेक्टर, यूलिसीज़, एजक्स और ऐगेमेमनान अवश्य बड़े वीर और पराक्रमी थे, परन्तु उनकी तुलना भीष्म, द्रोणाचार्य, युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन के साथ करना इतिहास के मर्मों को एकबारगी भूलना है। भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता और यूनान की प्राचीन सभ्यता दोनों में बहुत ही बड़ा भेद था। वही भेद भारतवर्ष के वीरों और यूनान के वीरों के कर्मों में है।

यूरुप के आधुनिक इतिहास की तो चर्चा ही क्या आधुनिक इतिहास में उस विचित्र और पवित्र चरित्र का चित्र मिलना असंभव ही है, जिसकी कीर्ति की कुछ छटा उसकी संतान को दिखलाने के लिये आज हमने लेखनी उठाई है।

भारतवासियों के लिये महात्मा भीष्म के चरित्र की चर्चा अमृत के समान है। जितना ही अधिक वह उनका स्मरण करेंगे, जितना ही अधिक वह उनके उपदेशों को आंख खोल कर पढ़ेंगे, उतना ही अधिक बल और पुरुषार्थ उनमें आवेगा। देश की दशा को सुधारने और उसको फिर उस उच्च शिखर पर पहुंचाने में, जिस पर कि वह किसी समय में था, भीष्म जी का चरित्र हमारे लिये आदर्श रूप है। पितृ-भक्ति, प्रतिज्ञा-पालन, सत्य, धर्मपरायणता, शूरता, निर्भयता, देशभक्ति इन गुणों में कैसी अच्छी शिक्षा हमें भीष्म जी के चरित्र से मिलती है। इन्हीं गुणों से देश का, जाति का और भारतवासियों का उत्थान सम्भव है। इसी कारण से उन्हें भीष्म जी के चरित्र पर, जितना अधिक हो सके, मनन करना चाहिये।

भीष्म जी राजा शान्तनु के पुत्र थे। उनके पिता एक दिन आखेट के लिये जा रहे थे कि उन्होंने एक सुन्दर युवती को देखा, जिसे देख कर वे मोहित हो गये। वह सुन्दरी एक मल्लाह की पुत्री थी। राजा शान्तनु ने उस मल्लाह से उसकी पुत्री के साथ विवाह करने की इच्छा प्रगट की। परन्तु उस मल्लाह ने यह उत्तर दिया कि वह राजा के साथ अपनी पुत्री का विवाह केवल इस शर्त पर करेगा कि उससे जो पुत्र उत्पन्न हो वही राज्य का उत्तराधिकारी हो। राजा शान्तनु को भीष्म बहुत ही प्रिय थे और वे बड़े पुत्र थे, इस कारण से उन्होंने यह प्रतिज्ञा करना स्वीकार न किया। परन्तु उस सुन्दरी के मोह में, जिसका नाम सत्यवती था, वे दिन दिन दुर्बल और पीले पड़ते गये।

पिता की यह दशा देखकर भीष्म को चिन्ता हुई और इस रोग का कारण खोजने पर उन्हें वास्तविक बात मालूम हुई। भीष्म तुरन्त ही उस मल्लाह के पास गये और उससे उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि सत्यवती से जो पुत्र होगा वही राज्य का उत्तराधिकारी होगा, मैं उत्तराधिकारी न हूंगा।

मल्लाह ने यह बात तो मान ली परन्तु फिर यह कहा कि "तुमने अपने सम्बन्ध में तो प्रतिज्ञा कर ली कि तुम राज्य न लोगे परन्तु यदि तुम्हारे पुत्र हुए और उन्होंने राज्य छीन लिया तब हम क्या करेंगे?" इस बात को सुनकर भीष्म ने उसी समय यह कठिन प्रतिज्ञा की कि "हम आजन्म ब्रह्मचारी रहेंगे, तू अपनी पुत्री का विवाह पिता जी के साथ कर दे।"

पितृभक्ति का कैसा अच्छा उदाहरण हमको इससे मिल रहा है। परन्तु इस प्रतिज्ञा करने से भी बढ़कर प्रतिज्ञा-पालन करने की रीति थी। जिस भांति भीष्म ने सत्यवती के पुत्रों की रक्षा और उनके साथ स्नेह किया वह हमें प्रतिज्ञा-पालन की उत्तम शिक्षा दे रहा है। सत्यवती ने अपने पुत्रों के मरने पर स्वयं भीष्म से बहुत अनुरोध किया कि वह वंश चलाने के लिये अपना विवाह करें परन्तु दृढ़प्रतिज्ञ भीष्म की प्रतिज्ञा नहीं टल सकती थी। एक बार जो व्रत किया, मृत्यु के दिन तक निबाहा, राज्य रहे चाहे न रहे, वंश चले या न चले, वीर भीष्म की प्रतिज्ञा अटल है। उसका तोड़ना किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

पाठकगण, अब आप महाभारत का दूसरा चित्र अपनी आंखों के सामने खींचें जब कि वृद्ध भीष्म संग्रामभूमि में अजेय रथ पर चढ़े सूर्य के समान प्रकाशमान हो रहे हैं और क्षत्रीधर्म का निबाह करते और वाणों की वर्षा करते पाण्डवों की सेना का संहार कर रहे हैं। महाभारत को आरम्भ हुए नव दिवस व्यतीत हो चुके हैं। नव दिवस से वह रोमहर्षण संग्राम जिसमें अन्तिम बार भारतवर्ष के प्रचण्ड वीरों का महत्त्व दिखाई पड़ा था, बराबर हो रहा है। कुरुक्षेत्र की भूमि रुधिर की नदियों से रक्त-वर्ण हो गई है। मांस और हड्डियों का विकट दृश्य आंख के सामने उपस्थित है। कायर अपने तुच्छ जीवन के मोह में पड़े भयभीत हो भाग रहे हैं. अपने क्षत्रीधर्म में दृढ़ शूरवीर शंखनाद और धनुष की टंकार के शब्दों से उत्तेजित हो इस असार संसार को और अपने नाशमान जीवन को धर्म के आगे तुच्छ समझते हुये उस घोर युद्ध में मुदित हो हो कर प्रवेश कर रहे हैं, जहां पितामह

भीष्म ने अपने वाणों से मंडल बांध अर्जुन के रथ को ढांक दिया है और जहां वीर अर्जुन अपने तीक्ष्ण वाणों से भीष्म जी के हाथ में लिये हुये धनुषों को काट काट कर गिरा रहे हैं और भीष्म जी अपने शिष्य की हस्तलाघवता की प्रशंसा कर प्रसन्न हो रहे हैं।

भीष्म जी ने दुर्योधन को महाभारत आरम्भ होने से पहले बहुत समझाया था परन्तु उसके न मानने पर और उसकी ओर युद्ध करना अपना धर्म जान भीष्म जी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं दस सहस्र पाण्डवों के योद्धाओं को मारूंगा। आज वे उसी कठिन प्रतिज्ञा का पालन कर रहे हैं। युधिष्ठिर की सेना में आज प्रलय मच गया है। जिसी ओर पितामह के रथ और वाण जाते हैं उसी ओर योद्धाओं की लोथें दिखलाई पढ़ती हैं। पाण्डवों की सेना भीष्म जी के प्रचण्ड तेज के सामने आज ग्रीष्म ऋतु के सूर्य से तप्त गौ के समान निःसहाय और निर्बल हो रही है।

ऐसी अवस्था में पाण्डवों के सहायी श्रीकृष्ण जी अर्जुन के रथ को छोड़ भीष्म के मारने के लिए सिंह के समान गर्जते क्रोध से दौड़े हैं। उनको अपनी ओर आते देखकर भीष्म जी हाथ जोड़कर कह रहे हैं कि "हे कृष्ण, हे यादवेन्द्र, आप आइये, आपको नमस्कार है। आप मुझे इस महायुद्ध में गिराईये। हे निष्पाप! मैं आपका निस्सन्देह दास हूं, आप इच्छानुसार प्रहार कीजिये, आप के हाथों से मरना मेरा सब प्रकार कल्याण ही है।"

भीष्म जी हाथ जोड़कर प्रसन्नचित्त यह कह रहे हैं और दूसरी ओर से अर्जुन श्रीकृष्ण के चरणों को पकड़ कर उन्हें उनकी इस प्रतिज्ञा की याद दिला रहे हैं कि "हम नहीं लड़ेंगे" और प्रार्थना कर रहे हैं कि "पितामह को मारना काम मेरा है, आप अपने प्रण की ओर ध्यान दीजिये।" इस प्रकार अर्जुन के स्मरण दिलाने पर श्रीकृष्ण फिर रथ पर चढ़ गये हैं और फिर अर्जुन और कृष्ण और पाण्डवों की समस्त सेना पितामह के शस्त्रप्रहार से घायल और पीड़ित हो रही है।

अब सूर्य अस्ताचल को चले गये हैं। दिन के परिश्रम से थकी हुई दोनों सेनायें अपने अपने डेरों में विश्राम कर रही हैं। महाराज युधिष्ठिर के डेरे में सलाह हो रही है। युधिष्ठिर भीष्म जी के पराक्रम को देख निराश हो रहे हैं। अपनी सेना को भीष्म के सामने निःसहाय देखकर श्रीकृष्ण जी से कह रहे हैं कि "भीष्म जी का विजय करना महाकठिन और असम्भव है। मेरी सेना भीष्म जी के सामने

पतिङ्गे के समान नष्ट हो रही है। मेरे शूरवीर प्रतिदिन भीष्म जी के हाथों से मारे जा रहे हैं, इस कारण से मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मेरा कल्याण बन को चले जाने में ही है!"

इस बचन को सुनकर श्रीकृष्ण जी ने युधिष्ठिर को ढाढ़स दिया कि अर्जुन अवश्य भीष्म पितामह को मारेंगे, फिर युधिष्ठिर ने कहा कि "अच्छा चलो हम सब लोग भीष्म पितामह ही से पूछें कि वे किस रीति से मारे जा सकते हैं। यद्यपि वे दुर्योधन की ओर लड़ रहे हैं तो भी उन्होंने हम लोगों को युद्ध में सलाह देने का प्रण किया है। वे स्वयं अपने मरने का उद्योग बतावेंगे।"

श्रीकृष्ण जी और पाण्डवों ने भी यह बात स्वीकार की और सब मिलकर नम्रता के साथ पितामह के डेरे में गये। भीष्म जी ने आदर और स्नेह से उनको अपने पास बिठाया और उनके आगमन का कारण पूछा। युधिष्ठिर ने अपने आने का कारण बताया और कहा कि "हम लोग आप में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं जानते, आप युद्ध में सदा धनुष-मंडल के समान दिखाई पड़ते हैं। हम लोग आपको धनुष चढ़ाते, वाण लेते, संधानते और फिर सूर्य के समान रथ पर चढ़ते हुये भी नहीं देख सकते हैं, अब किस पुरुष की सामर्थ्य है जो आपको युद्ध में विजय कर सके, आपने अपने वाणों की वर्षा से युद्ध में प्रलय मचाकर मेरी बड़ी सेना का नाश किया है, अब जिस रीति से हम आपको युद्ध में विजय कर सकें और अपनी सेना बचा सकें सो हे पितामह! आप हमको बताइये।"

इसके उत्तर में भीष्म जी ने कहा कि "हे राजा! तुम्हारी सेना में द्रुपद का बेटा, शूरवीर शिखण्डी नाम का है। जिस प्रकार से यह पहिले स्त्री था, फिर पुरुष हुआ, इसका वृत्तान्त तुम जानते हो। अर्जुन तीक्ष्ण वाणों को लिये हुये शिखण्डी को आगे करके मेरे सन्मुख जो आवें तो धनुष वाण हाथ में लिये हुये भी मैं उस पहिले स्त्री रूप रखने वाले पर किसी अवस्था में शस्त्र न चलाऊंगा। इस कारण यह उत्तम धनुषधारी अर्जुन उसी को मेरे आगे नियत करके मुझको मारे। निस्सन्देह तुम्हारी विजय होगी। युधिष्ठिर, तुम मेरे इस वचन का प्रतिपालन करो।"

धन्य हो वीर भीष्म! यह तुम्हारे योग्य ही था कि सत्य का पालन कर स्वयं अपने मरने का उपाय बतलाया। धन्य है वह भूमि जो तुम्हारे समान साहसी

सत्यव्रत और दृढ़प्रतिज्ञ वीर पैदा करे। तुम्हारे ही ऐसे पवित्रात्माओं के पुण्य से आज भी त्रैलोक्य स्थिर है, तुम्हारे ही से प्रभाव से संसार में आज भी कुछ धर्म दिखाई पड़ता है। और तुम्हारी कीर्त्ति की अजेय ध्वजा के नीचे आज भी भारत-वासी यह यत्न कर रहे हैं कि बहुत दिनों के आलस्य के पाप का प्रायश्चित्त कर तुम्हारी सन्तान कहलाने के योग्य हों!

प्रातःकाल महाभारत का दसवां दिन आरम्भ हो गया है, पाण्डवों की सेना भीष्म जी के उपाय बताने के अनुसार शिखण्डी को आगे कर भीष्म पितामह के मारने के लिये उद्यत हो रही है। कौरवों के बड़े बड़े सैनिक द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, जयद्रथ, अश्वत्थामा आदि भीष्म पितामह की रक्षा में प्रवृत्त हैं। घोर संग्राम हो रहा है, दोनों ओर के सहस्रों वीर रणगंगा में स्नान कर अपने क्षत्रीधर्म को निवाहते वीरगति या ब्रह्मलोक की यात्रा कर रहे हैं।

पितामह भीष्म भी धनुष की टनकारों से घोर शब्द करते हुये अपने बाणों से आकाश आच्छादित कर रहे हैं; परन्तु शिखण्डी के सम्मुख से हट जाते हैं और उसके बाण सहते हुये उस पर शस्त्र नहीं फेंकते हैं। आज उन्होंने अपनी उस प्रतिज्ञा को जो उन्होंने दुर्योधन से की थी, पूरी कर दिया है। और अब इस हत्याकाण्ड से हटा चाहते हैं।

सन्ध्या का समय निकट है, सूर्य अस्ताचल को जाने ही वाले हैं। अर्जुन ने शिखण्डी की आड़ में लड़ते हुये भीष्म जी के अंगों में बाण ही बाण बेध दिये हैं। उनका कवच टुकड़े टुकड़े हो गया है। उनका शरीर भी शिथिल हो रहा है। भीष्म जी भी कह रहे हैं कि "जान पड़ता है कि ये सब बाण मुझे अर्जुन ही मार रहा है; क्योंकि न शिखण्डी के और न किसी के बाण मुझे इस प्रकार पीड़ा पहुंचा सकते हैं"। तो भी टूटा ही कवच धारण किये वे लड़ रहे हैं और पाण्डवों की सेना का विध्वंस करते हैं।

परन्तु बस अब अधिक बल नहीं रह गया। रथ के टुकड़े हो गये हैं और महात्मा भीष्म रथ पर से पृथ्वी पर गिर पड़े हैं। परन्तु रोम रोम में धंसे शरों ने उन्हें आकाश ही में रोक लिया है। वे पृथ्वी तक पहुंचने नहीं पाये हैं और शरशय्या पर सच्चे वीर के समान पड़े हैं। महात्मा भीष्म के गिरते ही चारों ओर हाहाकार मच गया है। युद्ध बन्द हो गया है। कौरव और पाण्डव

सभी कवच उतार और शस्त्र अलग धर महात्मा भीष्म के दर्शन के लिये दौड़ रहे हैं। उनके चारों ओर कौरव और पाण्डव आंखों में आंसू भरे उपस्थित हैं। भीष्म जी का शिर लटका हुआ है। इस हेतु उन्हें तकिये की आवश्यकता हुई है। राजा लोग बहुत कोमल तकिये उनके शिर के नीचे रखने को उपस्थित कर रहे हैं। परन्तु उन तकियों को देखकर भीष्म जी कहते हैं कि "हे राजाओ! ये तकिये वीरों की शय्याओं पर शोभा नहीं देते"।

फिर अर्जुन को देख कर बोले—"हे बेटा अर्जुन! मेरा शिर लटकता है, तुम बहुत शीघ्र मेरे शयन के योग्य तकिया मुझे दे दो"। आंखों से आंसू बहाते हुये अर्जुन ने "जो आज्ञा" कहकर और पितामह का आशय समझ गांडीव धनुष को हाथ में ले तीन बाणों से भीष्म जी के लटकते हुये शिर को सीधा कर दिया। भीष्म जी अर्जुन से बहुत ही प्रसन्न हुये और उसकी प्रशंसा करने लगे।

इसी प्रकार शरशय्या पर पड़े भीष्म जी इस बात की प्रतीक्षा देख रहे हैं कि सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण हो जायं, तब हम अपना शरीर छोड़ें। इसी शय्या पर से वे दुर्य्योधन और कर्ण को उपदेश दे रहे हैं कि इस देश-नाशकरी संग्राम को मेरी ही मृत्यु के साथ बन्द कर देना चाहिये।

दुर्योधन और कर्ण के न मानने के कारण युद्ध बराबर हो रहा है। अन्त में कौरवों को जय कर युधिष्ठिर ने राज पाया है; परन्तु भाइयों के मरने पर शोकग्रस्त हो फिर पितामह के पास आये हैं और भीष्म जी ने उनको वह धर्म का उपदेश दिया है जो चिरकाल तक भारतवासियों को स्मरण रखना चाहिये :—

केवल मारने और न मारने में पाप व पुण्य नहीं है। धर्म की और देश की रक्षा के लिये शत्रुओं का नाश करना ही सदा धर्म है। ऐसे समय मारने से मुख मोड़ना महापाप है। धर्म ही एक मुख्य पदार्थ है। जीना और मरना सदा ही लगा रहता है, एक शरीर को छोड़ मनुष्य को दूसरे शरीर में जाना है। इस कारण शरीर के मोह में पड़ धर्म का त्याग करना केवल निर्बुद्धि और मूर्खता है।

महात्मा भीष्म का चरित्र इस बात का उदाहरण है कि मनुष्य को किस प्रकार अपने धर्म को निबाहना चाहिये और भारतवासियों को सदा शिक्षा दे रहा है कि क़ायरता और शरीर के मोह को छोड़ तुम्हें निर्भयता से अपने धर्म पर आरूढ़ हो देश की उन्नति में प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

ताई

(१)

"ताऊजी, हमें लेलगाली (रेलगाड़ी) ला दोगे ?"—कहता हुआ एक पंचवर्षीय बालक बाबू रामजीदास की ओर दौड़ा।

बाबू साहब ने दोनों बांहें फैलाकर कहा—"हां बेटा, ला देंगे।"

उनके इतना कहते-कहते बालक उनके निकट आ गया। उन्होंने बालक को गोद में उठा लिया, और उसका मुख चूमकर बोले—"क्या करेगा रेलगाड़ी ?"

बालक बोला—"उसमें बैठके बली दूल जायंगे। हम भी जायंगे, चुन्नी को भी ले जायंगे। बाबूजी को नहीं ले जायंगे। हमें लेलगाली नहीं ला देते। ताऊजी, तुम ला दोगे, तो तुम्हें ले जायंगे।"

बाबू—"और किसे ले जायगा ?"

बालक दम-भर सोचकर बोला—"बछ, औल किछी को नहीं ले जायंगे।"

पास ही बाबू रामजीदास की अर्द्धांगिनी बैठी थीं। बाबू साहब ने उनकी ओर इशारा करके कहा—"और अपनी ताई को नहीं ले जायगा ?"

बालक कुछ देर तक अपनी ताई की ओर देखता रहा। ताईजी उस समय कुछ चिढ़ी हुई-सी बैठी थीं। बालक को उनके मुख का वह भाव अच्छा न लगा। अतएव वह बोला—"ताई को नहीं ले जायंगे।"

ताईजी सुपारी काटती हुई बोलीं—"अपने ताऊजी ही को ले जा! मेरे उपर दया रख!"

ताई ने वह बात बड़ी रुखाई के साथ कही। बालक ताई के शुष्क व्यवहार को तुरत ताड़ गया। बाबू साहब ने फिर पूछा—"ताई को क्यों नहीं ले जायगा ?"

बालक—"ताई हमें प्याल (प्यार) नहीं कलतीं।"

बाबू—"जो प्यार करें तो ले जायगा ?"

बालक को इसमें कुछ संदेह था। ताई का भाव देखकर उसे यह आशा नहीं थी कि वह प्यार करेंगी। इससे बालक मौन रहा।

बाबू साहब ने फिर पूछा—"क्यों रे, बोलता नहीं ? ताई प्यार करें तो रेल पर बिठाकर ले जायगा ?"

बालक ने ताऊजी को प्रसन्न करने के लिए केवल सिर हिलाकर स्वीकार कर लिया; परंतु मुख से कुछ नहीं कहा।

बाबू साहब उसे अपनी अर्द्धांगिनीजी के पास ले जाकर उनसे बोले—"लो, इसे प्यार कर लो तो यह तुम्हें भी ले जायगा।" परंतु बच्चे की ताई श्रीमती रामेश्वरी को पति की यह चुहलबाज़ी अच्छी न लगी वह तुनककर बोलीं—"तुम्हीं रेल पर बैठकर जाओ, मुझे नहीं जाना है।"

बाबू साहब ने रामेश्वरी की बात पर ध्यान नहीं दिया। बच्चे को उनकी गोद में बिठाने की चेष्टा करते हुए बोले—"प्यार नहीं करोगी तो फिर रेल में नहीं बिठावेगा।—क्यों रे मनोहर?"

मनोहर ने ताऊ की बात का उत्तर नहीं दिया। उधर ताई ने मनोहर को अपनी गोद से ढकेल दिया। मनोहर नीचे गिर पड़ा। शरीर में तो चोट नहीं लगी; पर हृदय में चोट लगी। बालक रो पड़ा।

बाबू साहब ने बालक को गोद में उठा लिया, चुमकार-पुचकार कर चुप किया और तत्पश्चात् उसे कुछ पैसे तथा रेलगाड़ी ला देने का बचन देकर छोड़ दिया। बालक मनोहर भय-पूर्ण दृष्टि से अपनी ताई की ओर ताकता हुआ उस स्थान से चला गया।

मनोहर के चले जाने पर बाबू रामजीदास रामेश्वरी से बोले—"तुम्हारा यह कैसा व्यवहार है? बच्चे को ढकेल दिया! जो उसके चोट लग जाती तो?"

रामेश्वरी मुंह मटकाकर बोलीं—"लग जाती तो अच्छा होता। क्यों मेरी खोपड़ी पर लादे देते थे? आप ही तो उसे मेरे ऊपर डालते थे और आप ही अब ऐसी बातें करते हैं।"

बाबू साहब कुढ़कर बोले—"इसी को खोपड़ी पर लादना कहते हैं?"

रामेश्वरी—"और नहीं किसे कहते हैं? तुम्हें तो अपने आगे और किसी का दुख-सुख सूझता ही नहीं। न-जाने कब किसका जी कैसा होता है। तुम्हें इन बातों की कोई परवा ही नहीं, अपनी चुहल से काम है।"

बाबू—"बच्चों की प्यारी-प्यारी बातें सुनकर तो चाहे जैसा जी हो प्रसन्न हो जाता है। मगर तुम्हारा हृदय न-जाने किस धातु का बना हुआ है!"

रामेश्वरी--"तुम्हारा हो जाता होगा। और, होने को होता भी है; मगर वैसा बच्चा भी तो हो! पराए धन से भी कहीं घर भरता है।"

बाबू साहब कुछ देर चुप रहकर बोले--"यदि अपना सगा भतीजा भी पराया धन कहा जा सकता है, तो फिर मैं नहीं समझता कि अपना धन किसे कहेंगे।"

रामेश्वरी कुछ उत्तेजित होकर बोलीं--"बातें बनाना बहुत आता है। तुम्हारा भतीजा है, तुम चाहे जो समझो; पर मुझे ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। हमारे भाग ही फूटे हैं! नहीं तो ये दिन काहे को देखने पड़ते! तुम्हारा चलन तो दुनिया से निराला है। आदमी संतान के लिए न-जाने क्या-क्या करते हैं--पूजा-पाठ कराते हैं, व्रत रखते हैं, पर तुम्हें इन बातों से क्या काम? रात-दिन भाई-भतीजों में मगन रहते हो।"

बाबू साहब के मुख पर घृणा का भाव झलक आया। उन्होंने कहा--"पूजा-पाठ, व्रत, सब ढकोसला है। जो वस्तु भाग्य में नहीं, वह पूजा-पाठ से कभी प्राप्त नहीं हो सकती। मेरा तो यह अटल विश्वास है।

श्रीमतीजी कुछ-कुछ रुआसे स्वर में बोलीं--"इसी विश्वास ने तो सब चौपट कर रक्खा है! ऐसे ही विश्वास पर सब बैठ जायं, तो काम कैसे चले। सब विश्वास पर ही बैठे रहें, तो आदमी काहे को किसी बात के लिए चेष्टा करे।"

बाबू साहब ने सोचा कि मूर्ख स्त्री के मुंह लगना ठीक नहीं। अतएव वह स्त्री की बात का कुछ उत्तर न देकर वहां से टल गए।

(२)

बाबू रामजीदास धनी आदमी हैं। कपड़े की आढ़त का काम करते हैं। लेन-देन भी है। इनके एक छोटा भाई है। उसका नाम है कृष्णदास। दोनों भाइयों का परिवार एक ही में है। बाबू रामजीदास की आयु ३५ वर्ष के लगभग है, और छोटे भाई कृष्णदास की २१ के लगभग। रामजीदास निस्संतान हैं। कृष्णदास के दो संतानें हैं। एक पुत्र, वही पुत्र जिससे पाठक परिचित हो चुके हैं--और एक कन्या है। कन्या की आयु दो वर्ष के लगभग है।

रामजीदास अपने छोटे भाई और उनकी संतान पर बड़ा स्नेह रखते हैं--ऐसा स्नेह कि उसके प्रभाव से उन्हें अपनी संतान-हीनता कभी खटकती ही नहीं।

छोटे भाई की संतान को वे अपनी ही संतान समझते हैं। दोनों बच्चे भी रामजीदास से इतने हिले हैं कि उन्हें अपने पिता से भी अधिक समझते हैं।

परंतु रामजीदास की पत्नी रामेश्वरी को अपनी संतान-हीनता का बड़ा दु:ख है। वह दिन-रात संतान ही के सोच में घुला करती हैं। छोटे भाई की संतान पर पति का प्रेम उनकी आंखों में कांटे की तरह खटकता है।

रात को भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर रामजीदास शय्या पर लेटे हुए शीतल और मंद वायु का आनंद ले रहे थे। पास ही दूसरी शय्या पर रामेश्वरी, हथेली पर सिर रक्खे, किसी चिंता में डूबी हुई थीं। दोनों बच्चे अभी बाबू साहब के पास से उठकर अपनी मां के पास गए थे।

बाबू साहब ने अपनी स्त्री की ओर करवट लेकर कहा—"आज तुमने मनोहर को इस बुरी तरह से ढकेला था कि मुझे अब तक उसका दु:ख है। कभी-कभी तो तुम्हारा व्यवहार बिलकुल ही अमानुषिक हो उठता है।"

रामेश्वरी बोलीं—"तुम्हीं ने मुझे ऐसा बना रक्खा है। उस दिन उस पंडित ने कहा था कि हम दोनों के जन्म-पत्र में संतान का जोग है और उपाय करने से संतान हो भी सकती है। उसने उपाय भी बताए थे ; पर तुमने उनमें से एक भी उपाय करके न देखा। बस, तुम तो इन्हीं दोनों में मगन हो। तुम्हारी इस बात से रातदिन मेरा कलेजा सुलगता है। आदमी उपाय तो करके देखता है, फिर होना न होना तो भगवान् के अधीन है।"

बाबू साहब हंसकर बोले—"तुम्हारी जैसी सीधी स्त्री भी........क्या कहूं, तुम इन ज्योतिषियों की बातों पर विश्वास करती हो, जो दुनिया-भर के झूठे और धूर्त हैं! ये झूठ बोलने ही की रोटियां खाते हैं!"

रामेश्वरी तुनककर बोलीं—"तुम्हें तो सारा संसार झूठा ही दिखाई पड़ता है। ये पोथी-पुराण भी सब झूठे हैं? पंडित कुछ अपनी तरफ़ से तो बनाकर कहते ही नहीं हैं। शास्त्र में जो लिखा है, वही वे भी कहते हैं। शास्त्र झूठा है, तो वे भी झूठे हैं। अंगरेज़ी क्या पढ़ी, अपने आगे किसी को गिनते ही नहीं। जो बातें बाप-दादे के ज़माने से चली आई हैं, उन्हें भी झूठा बताते हैं।"

बाबू साहब—"तुम बात तो समझती नहीं, अपनी ही ओटे जाती हो। मैं यह नहीं कहता कि ज्योतिषशास्त्र झूठा है। संभव है वह सच्चा हो। परंतु

ज्योतिषियों में अधिकांश झूठे होते हैं। उन्हें ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान तो होता नहीं, दो-एक छोटी-मोटी पुस्तकें पढ़कर ज्योतिषी बन बैठते और लोगों को लूटते फिरते हैं। ऐसी दशा में उनकी बातों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है?"

रामेश्वरी—"हूं, सब झूठे ही हैं, तुम्हीं एक बड़े सच्चे हो! अच्छा एक बात पूछती हूं। भला तुम्हारे जी में संतान की इच्छा क्या कभी नहीं होती?"

इस बार रामेश्वरी ने बाबू साहब के हृदय का कोमल स्थान पकड़ा। वह कुछ देर चुप रहे। तत्पश्चात् एक लंबी सांस लेकर बोले—"भला ऐसा कौन मनुष्य होगा जिसके हृदय में संतान का मुख देखने की इच्छा न हो? परंतु किया क्या जाय? जब नहीं है, और न होने की कोई आशा ही है, तब उसके लिए व्यर्थ चिंता करने से क्या लाभ? इसके सिवा, जो बात अपनी संतान से होती, वही भाई की संतान से भी हो रही है। जितना स्नेह अपनी पर होता, उतना ही इन पर भी है, जो आनंद उनकी बाल-क्रीड़ा से आता, वही इनकी क्रीड़ा से भी आ रहा है। फिर मैं नहीं समझता कि चिंता क्यों की जाय।"

रामेश्वरी कुढ़कर बोलीं—"तुम्हारी समझ को मैं क्या कहूं। इसी से तो रात-दिन जला करती हूं। भला यह तो बताओ कि तुम्हारे पीछे क्या इन्हीं से तुम्हारा नाम चलेगा?"

बाबू साहब हंसकर बोले—"अरे तुम भी कहां की पोच बातें लाईं। नाम संतान से नहीं चलता। नाम अपनी सुकृति से चलता है। तुलसीदास को देश का बच्चा-बच्चा जानता है। सूरदास को मरे कितने दिन हो चुके? इसी प्रकार जितने महात्मा हो गए हैं, उन सबका नाम क्या उनकी संतान ही की बदौलत चल रहा है? सच पूछो, तो संतान से नाम चलने की जितनी आशा रहती है, नाम डूब जाने की भी उतनी ही संभावना रहती है। परंतु सुकृति एक ऐसी वस्तु है, जिससे नाम बढ़ने के सिवा घटने की कभी आशंका रहती ही नहीं। हमारे शहर में राय गिरिधारीलाल कितने नामी आदमी थे? उनके संतान कहां है? पर उनकी धर्मशाला और अनाथालय से उनका नाम अब तक चला जा रहा है, और अभी न-जाने कितने दिनों तक चला जायगा।"

रामेश्वरी—"शास्त्र में लिखा है कि जिसके पुत्र नहीं होता, उसकी मुक्ति नहीं होती?"

बाबू—"मुक्ति पर मुझे विश्वास ही नहीं। मुक्ति है किस चिड़िया का नाम? यदि मुक्ति होना मान भी लिया जाय, तो यह कैसे माना जा सकता है कि सब पुत्रवानों की मुक्ति हो ही जाती है? मुक्ति का भी क्या सहज उपाय है। ये जितने पुत्रवाले हैं, सभी की तो मुक्ति हो जाती होगी?"

रामेश्वरी निरुत्तर होकर बोलीं—"अब तुमसे कौन बकवाद करे। तुम तो अपने सामने किसी की मानते ही नहीं।"

(३)

मनुष्य का हृदय बड़ा ममत्व-प्रेमी है। कैसी ही उपयोगी और कितनी ही सुंदर वस्तु क्यों न हो, जब तक मनुष्य उसको पराई समझता है, तब तक उससे प्रेम नहीं करता। किंतु भद्दी-से-भद्दी और बिलकुल काम में न आनेवाली वस्तु को भी यदि मनुष्य अपनी समझता है, तो उससे प्रेम करता है। पराई वस्तु कितनी ही मूल्यवान् क्यों न हो, कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, कितनी ही सुंदर क्यों न हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं करता, इसलिए कि वह वस्तु उसकी नहीं, पराई है। अपनी वस्तु कितनी ही भद्दी हो, काम में न आनेवाली हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य को दुःख होता है, इसलिए कि वह अपनी चीज़ है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य पराई चीज़ से प्रेम करने लगता है। ऐसी दशा में भी जब तक मनुष्य उस वस्तु को अपनी बनाकर नहीं छोड़ता, अथवा अपने हृदय में यह विचार नहीं दृढ़ कर लेता कि यह वस्तु मेरी है, तब तक उसे संतोष नहीं होता। ममत्व से प्रेम उत्पन्न होता है, और प्रेम से ममत्व। इन दोनों का साथ चोली-दामन का-सा है। ये कभी पृथक् नहीं किए जा सकते।"

यद्यपि रामेश्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अन्तर्निहित थे, जो एक माताके हृदय में होते हैं; परंतु उनका बिकास नहीं हुआ था। उनका हृदय उस भूमि की तरह था, जिसमें बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के ऊपर लानेवाला कोई नहीं। इसीलिए उनका हृदय उन बच्चों की ओर खिंचता तो था, परंतु जब उन्हें ध्यान आता था कि ये बच्चे मेरे नहीं, दूसरे के हैं,

तब उनके हृदय में उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता था, घृणा पैदा होती थी। विशेष-कर उस समय उनके द्वेष की मात्रा और भी बढ़ जाती थी, जब वह यह देखती थीं कि उनके पति-देव उन बच्चों पर प्राण देते हैं, जो उनके (रामेश्वरी के) नहीं हैं।

शाम का समय था। रामेश्वरी खुली छत पर बैठी हवा खा रही थीं। पास ही उनकी देवरानी भी बैठी थीं। दोनों बच्चे छत पर दौड़-दौड़कर खेल रहे थे। रामेश्वरी उनके खेल को देख रही थीं। इस समय रामेश्वरी को उन बच्चों का खेलना-कूदना बड़ा भला मालूम हो रहा था। हवा में उड़ते हुए उनके बाल, कमल की तरह खिले हुए उनके नन्हें- नन्हें मुख, उनकी प्यारी-प्यारी तोतली बातें, उनका चिल्लाना, भागना, लोट जाना इत्यादि क्रीड़ाएं उनके हृदय को शीतल कर रही थीं। सहसा मनोहर अपनी बहन को मारने दौड़ा। वह खिलखिलाती हुई दौड़कर रामेश्वरी की गोद में जा गिरी। उसके पीछे-पीछे मनोहर भी दौड़ता हुआ आया, और वह भी उन्हीं की गोद में जा गिरा। रामेश्वरी उस समय सारा द्वेष भूल गईं। उन्होंने दोनों बच्चों को उसी प्रकार हृदय से लगा लिया, जिस प्रकार वह मनुष्य लगाता है, जो कि बच्चों के लिए तरस रहा हो। उन्होंने बड़ी सतृष्णता से दोनों को प्यार किया। उस समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य उन्हें देखता, तो उसे यही विश्वास होता कि रामेश्वरी ही उन बच्चों की माता हैं।

दोनों बच्चे बड़ी देर तक उनकी गोद में खेलते रहे। सहसा उसी समय किसी के आने की आहट पाकर बच्चों की माता वहां से उठकर चली गई।

"मनोहर, ले रेलगाड़ी।"—कहते हुए बाबू रामजीदास छत पर आए। उनका स्वर सुनते ही दोनों बच्चे रामेश्वरी की गोद से तड़पकर निकल भागे। रामजीदास ने पहले दोनों को खूब प्यार किया, फिर बैठकर रेलगाड़ी दिखाने लगे।

इधर रामेश्वरी की नींद-सी टूटी। पति को बच्चों में मगन होते देखकर उनकी भौंहें तन गईं। बच्चों के प्रति हृदय में फिर वही घृणा और द्वेष का भाव जग उठा।

बच्चों को रेलगाड़ी देकर बाबू साहब रामेश्वरी के पास आए, और मुसकिरा-कर बोले—"आज तो तुम बच्चों को बड़ा प्यार कर रहीं थीं। इससे मालूम होता है कि तुम्हारे हृदय में भी इनके प्रति कुछ प्रेम अवश्य है।"

रामेश्वरी को पति की यह बात बहुत बुरी लगी। उन्हें अपनी कमज़ोरी पर बड़ा दुख हुआ। केवल दुःख ही नहीं, अपने ऊपर क्रोध भी आया। वह दुःख और क्रोध पति के उक्त वाक्य से और भी बढ़ गया। उनकी कमज़ोरी पति पर प्रकट हो गई, यह बात उनके लिए असह्य हो उठी।

रामजीदास बोले—"इसीलिए मैं कहता हूं कि अपनी संतान के लिए सोच करना वृथा है। यदि तुम इनसे प्रेम करने लगो, तो तुम्हें ये ही अपनी संतान प्रतीत होने लगेंगे। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि तुम इनसे स्नेह करना सीख रही हो।"

यह बात बाबू साहब ने नितांत शुद्ध हृदय से कही थी; परंतु रामेश्वरी को इसमें व्यंग की तीक्ष्ण गन्ध मालूम हुई। उन्होंने कुढ़कर मन में कहा—इन्हें मौत भी नहीं आती। मर जायं, पाप कटे! आठों पहर आंखों के सामने रहने से प्यार करने को जी ललचा ही उठता है। इनके मारे कलेजा और भी जला करता है।

बाबू साहब ने पत्नी को मौन देखकर कहा—"अब झेपने से क्या लाभ? अपने प्रेम-को छिपाने की चेष्टा करना व्यर्थ है, छिपाने की आवश्यकता भी नहीं।"

रामेश्वरी जल-भुनकर बोलीं—"मुझे क्या पड़ी है जो मैं प्रेम करूंगी? तुम्हीं को मुबारक रहे! निगोड़े आप ही आ-आके घुसते हैं। एक घर में रहने से कभी-कभी हंसना-बोलना ही पड़ता है। अभी परसों ज़रा यों ही ढकेल दिया, उस पर तुमने सैकड़ों बातें सुनाईं। संकट में प्राण हैं, न यों चैन, न त्यों चैन।"

बाबू साहब को पत्नी के वाक्य सुनकर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कर्कश स्वर में कहा—"न जाने कैसे हृदय की स्त्री है। अभी अच्छी ख़ासी बैठी बच्चों को प्यार कर रही थी, मेरे आते ही गिरगिट की तरह रंग बदलने लगी। अपनी इच्छा से चाहे जो करे, पर मेरे कहने से बल्लियों उछलती है। न-जाने मेरी बातों में कौन-सा विष घुला रहता है। यदि मेरा कहना ही बुरा मालूम होता है तो न कहा करूंगा। पर इतना याद रक्खो कि अब जो कभी इनके विषय में निगोड़े-सिगोड़े इत्यादि अपशब्द निकाले, तो अच्छा न होगा। तुमसे मुझे ये बच्चे कहीं अधिक प्यारे हैं।"

रामेश्वरी ने इसका कोई उत्तर न दिया। अपने क्षोभ तथा क्रोध को वह आंखों द्वारा निकालने लगीं।

जैसे-ही-जैसे बाबू रामजीदास का स्नेह दोनों बच्चों पर बढ़ता जाता था, वैसे-ही-वैसे रामेश्वरी के द्वेष और घृणा की मात्रा भी बढ़ती जाती थी। प्रायः बच्चों के पीछे पति-पत्नी में कहा-सुनी हो जाती थी, और रामेश्वरी को पति के कटु वचन सुनने पड़ते थे। जब रामेश्वरी ने यह देखा कि बच्चों के कारण ही वह पति की नज़र से गिरती जा रही हैं, तब उनके हृदय में बड़ा तूफ़ान उठा। उन्होंने सोचा—पराए बच्चों के पीछे यह मुझसे प्रेम कम करते जाते हैं, मुझे हर समय बुरा-भला कहा करते हैं। इनके लिए ये बच्चे ही सब कुछ हैं, मैं कुछ भी नहीं! दुनिया मरती जाती है, पर इन दोनों को मौत नहीं। ये पैदा होते ही क्यों न मर गए। न ये होते, न मुझे ये दिन देखने पड़ते। जिस दिन ये मरेंगे उस दिन घी के दिए जलाऊंगी। इन्होंने ही मेरा घर सत्यानास कर रक्खा है।

इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए। एक दिन नियमानुसार रामेश्वरी छत पर अकेली बैठी हुई थीं। उनके हृदय में अनेक प्रकार के विचार आ रहे थे। विचार और कुछ नहीं, वही अपनी निज की संतान का अभाव, पति का भाई की संतान के प्रति अनुराग इत्यादि। कुछ देर बाद जब उनके विचार स्वयं उन्हीं को कष्ट-दायक प्रतीत होने लगे, तब वह अपना ध्यान दूसरी ओर लगाने के लिए उठकर टहलने लगी।

वह टहल ही रही थीं कि मनोहर दौड़ता हुआ आया। मनोहर को देखकर उनकी भ्रुकुटी चढ़ गई, और वह छत की चहारदीवारी पर हाथ रखकर खड़ी हो गईं।

संध्या का समय था। आकाश में रंग-बिरंगी पतंगें उड़ रही थीं। मनोहर कुछ देर तक खड़ा पतंगों को देखता और सोचता रहा कि कोई पतंग कटकर उसकी छत पर गिरे, तो क्या ही आनंद आवे। देर तक पतंग गिरने की आशा करने के बाद वह दौड़कर रामेश्वरी के पास आया और उनकी टांगों में लिपटकर बोला—"ताई, हमें पतंग मंगा दो।" रामेश्वरी ने झिड़ककर कहा—"चल हट, अपने ताऊ से मांग जाकर।"

मनोहर कुछ अप्रतिभ होकर फिर आकाश की ओर ताकने लगा। थोड़ी देर वाद उससे फिर न रहा गया। इस बार उसने बड़े लाड़ में आकर अत्यंत करुण-स्वर में कहा—"ताई, पतंग मंगा दो, हम भी उलावेंगे।"

इस बार उसकी भोली प्रार्थना से रामेश्वरी का कलेजा कुछ पसीज गया। वह कुछ देर तक उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखती रहीं। फिर उन्होंने एक लंबी सांस लेकर मन-ही-मन कहा—यदि यह मेरा पुत्र होता, तो आज मुझसे बढ़कर भागवान् स्त्री संसार में दूसरी न होती। निगोड़-मारा कितना सुंदर है, और कैसी प्यारी-प्यारी बातें करता है—यही जी चाहता है कि उठाकर छाती से लगा लें।

यह सोचकर वह उसके सिर पर हाथ फेरनेवाली ही थीं कि इतने में मनोहर उन्हें मौन देखकर बोला—"तुम हमें पतंग नहीं मंगवा दोगी, तो ताऊजी से कहकर तुम्हें पितवांगे।"

यद्यपि बच्चे की इस भोली बात में भी बड़ी मधुरता थी, तथापि रामेश्वरी का मुख क्रोध के मारे लाल हो गया। वह उसे झिड़ककर बोलीं—'जा कह दे अपने ताऊजी से। देखूं वह मेरा क्या कर लेंगे।"

मनोहर भयभीत होकर उनके पास से हट आया और फिर सतृष्ण नेत्रों से आकाश में उड़ती हुई पतंगों को देखने लगा।

इधर रामेश्वरी ने सोचा—यह सब ताऊजी के दुलार का फल है कि बालिश्त-भर का लड़का मुझे धमकाता है। ईश्वर करे इस दुलार पर बिजली टूटे।

उसी समय आकाश से एक पतंग कटकर उसी छत की ओर आई और रामेश्वरी के उपर से होती हुई छज्जे की ओर गई। छत के चारों ओर चहारदीवारी थी। जहां रामेश्वरी खड़ी हुई थी, केवल वहीं पर एक द्वार था, जिससे छज्जे पर आ-जा सकते थे। रामेश्वरी उस द्वार से सटी हुई खड़ी थीं। मनोहर ने पतंग को छज्जे पर जाते देखा। पतंग पकड़ने के लिए वह दौड़कर छज्जे की ओर चला। रामेश्वरी खड़ी देखती रहीं। मनोहर उनके पास से होकर छज्जे पर चला गया और उनसे दो फ़ीट की दूरी पर खड़ा होकर पतंग को देखने लगा। पतंग छज्जे पर से होती हुई नीचे, घर के आंगन में, जा गिरी। एक पैर छज्जे की मुंडेर पर रखकर मनोहर ने नीचे आंगन में झांका, और पतंग को आंगन में गिरते देख वह प्रसन्नता के मारे फूला न समाया। वह नीचे जाने के लिए शीघ्रता से घूमा ;

परंतु घूमते समय मुंडेर पर से उसका पैर फिसल गया। वह नीचे की ओर चला। नीचे जाते-जाते उसके दोनों हाथों में मुंडेर आ गई। वह उसे पकड़कर लटक गया, और रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—"ताई!" रामेश्वरी ने धड़कते हुए हृदय से इस घटना को देखा। उनके मन में आया कि अच्छा है, मरने दो, सदा का पाप कट जायगा। यही सोचकर वह एक क्षण के लिए रुकीं। उधर मनोहर के हाथ मुंडेर पर से फिसलने लगे। वह अत्यंत भय तथा करुण नेत्रों से रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—"अरी ताई!" रामेश्वरी की आंखें मनोहर की आंखों से जा मिलीं। मनोहर की वह करुण दृष्टि देखकर रामेश्वरी का कलेजा मुंह को आ गया। उन्होंने व्याकुल होकर मनोहर को पकड़ने के लिए अपना हाथ बढ़ाया। उनका हाथ मनोहर के हाथ तक पहुंचा ही था कि मनोहर के हाथ से मुंडेर छूट गई। वह नीचे आ गिरा। रामेश्वरी चीख् मारकर छज्जे पर गिर पड़ीं।

रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुख़ार में बेहोश पड़ी रहीं। कभी-कभी वह ज़ोर से चिल्ला उठतीं, और कहतीं—"देखो-देखो वह गिरा जा रहा है—उसे बचाओ—दौड़ो—मेरे मनोहर को बचा लो।" कभी वह कहतीं—"बेटा मनोहर, मैंने तुझे नहीं बचाया। हां, हां, मैं चाहती तो बचा सकती थी—मैंने देर कर दी" इसी प्रकार के प्रलाप वह किया करतीं।

मनोहर की टांग उखड़ गई थी। टांग बिठा दी गई। वह क्रमशः फिर अपनी असली हालत पर आने लगा।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ। अच्छी तरह होश आने पर उन्होंने पूछा—"मनोहर कैसा है?"

रामजीदास ने उत्तर दिया—"अच्छा है।"

रामेश्वरी—"उसे मेरे पास लाओ।"

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया। रामेश्वरी ने उसे बड़े प्यार से हृदय से लगाया। आंखों से आंसुओं की झड़ी लग गई। हिचकियों से गला रुंध गया।

रामेश्वरी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गईं। अब वह मनोहर की बहन चुन्नी से भी द्वेष और घृणा नहीं करतीं। और, मनोहर तो अब उनका प्राणाधार हो गया है। उसके बिना उन्हें एक क्षण भी कल नहीं पड़ती।

दो बैलों की कथा

जानवरों में गधा सबसे ज्यादा बुद्धिहीन समझा जाता है। हम जब किसी आदमी को पल्ले दरजे का बेवकूफ़ कहना चाहते हैं, तो उसे गधा कहते हैं। गधा सचमुच बेवकूफ़ है, या उसके सीधेपन, उसकी निरापद सहिष्णुता ने उसे यह पदवी दे दी है, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता। गाएं सींग मारती हैं, ब्याई हुई गाय तो अनायास ही सिंहिनी का रूप धारण कर लेती है। कुत्ता भी बहुत ग़रीब जानवर है ; लेकिन कभी-कभी उसे भी क्रोध आ ही जाता है ; लेकिन गधे को कभी क्रोध करते नहीं सुना, न देखा। जितना चाहो गरीब को मारो, चाहे जैसी खराब सड़ी हुई घास सामने डाल दो, उसके चेहरे पर कभी असंतोष की छाया भी न दिखाई देगी। वैशाख में चाहे एकाध बार कुलेल कर लेता हो ; पर हमने तो उसे कभी खुश होते नहीं देखा। उसके चेहरे पर एक स्थायी विषाद स्थायी रूप से छाया रहता है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, किसी दशा में भी उसे बदलते नहीं देखा। ऋषियों-मुनियों के जितने गुण हैं, वह सभी उसमें पराकाष्ठा को पहुंच गये हैं ; पर आदमी उसे बेवकूफ़ कहता है। सद्‌गुणों का इतना अनादर कहीं नहीं देखा। कदाचित् सीधापन संसार के लिए उपयुक्त नहीं है। देखिए न भारतवासियों की अफ्रिका में क्यों दुर्दशा हो रही है ? क्यों अमेरिका में उन्हें घुसने नहीं दिया जाता ? बेचारे शराब नहीं पीते, चार पैसे कुसमय के लिए बचा कर रखते हैं, जी तोड़कर काम करते हैं, किसी से लड़ाई-झगड़ा नहीं करते, चार बातें सुनकर गम खा जाते हैं। फिर भी बदनाम हैं। कहा जाता है, वे जीवन के आदर्श को नीचा करते हैं। अगर वे भी ईंट का जवाब पत्थर से देना सीख जाते, तो शायद सभ्य कहलाने लगते। जापान की मिसाल सामने है। एक ही विजय ने उसे संसार की सभ्य जातियों में गण्य बना दिया।

लेकिन गधे का एक छोटा भाई और भी है, जो उससे कुछ ही कम गधा है, और वह है 'बैल'। जिस अर्थ में हम 'गधा' शब्द का प्रयोग करते हैं, कुछ उसी से मिलते-जुलते अर्थ में बछिया के ताऊ का प्रयोग भी करते हैं। कुछ लोग बैल को शायद बेवकूफी में सर्वश्रेष्ठ कहेंगे ; मगर हमारा विचार ऐसा नहीं। बैल कभी-कभी मारता भी है, कभी-कभी अड़ियल बैल भी देखने में आ जाता है। और

भी कई रीतियों से वह अपना असंतोष प्रकट कर देता है ; अतएव उसका स्थान गधे से नीचा है।

झूरी काछी के दोनों बैलों के नाम थे हीरा और मोती। दोन पछाईं जाति के थे। देखने में सुन्दर, काम में चौकस, डील ऊंचे। बहुत दिनों साथ रहते-रहते दोनों में भाई-चारा हो गया था। दोनों आमने-सामने या आस-पास बैठे हुए एक-दूसरे से मूक भाषा में विचार विनिमय करते थे। एक दूसरे के मन की बात कैसे समझ जाता था, हम नहीं कह सकते। अवश्य ही उनमें कोई ऐसी गुप्त शक्ति थी, जिससे जीवों में श्रेष्ठता का दावा करनेवाला मनुष्य वंचित है। दोनों एक दूसरे को चाटकर और सूंघकर अपना प्रेम प्रकट करते। कभी-कभी दोनों सींग भी मिला लिया करते थे। विग्रह के भाव से नहीं, केवल विनोद के भाव से, आत्मीयता के भाव से, जैसे दोस्तों में घनिष्ठता होते ही धौल-धप्पा होने लगता है। इसके बिना दोस्ती कुछ फुसफुसी, कुछ हलकी-सी रहती है, जिस पर ज्यादा विश्वास नहीं किया जा सकता। जिस वक्त यह दोनों बैल हल या गाड़ी में जोत दिये जाते और गरदनें हिला-हिलाकर चलते, तो हरेक की यही चेष्टा होती थी कि ज्यादा-से-ज्यादा बोझ मेरी ही गरदन पर रहे। दिन-भर के बाद दोपहर या संध्या को दोनों खोलते, तो एक दूसरे को चाट-चूटकर अपनी थकान मिटा लिया करते। नांद में खली-भूसा पड़ जाने के बाद दोनों साथ उठते, साथ नांद में मुंह डालते और साथ ही बैठते थे। एक मुंह हटा लेता, तो दुसरा भी हटा लेता था।

संयोग की बात, झूरी ने एक बार गोंई को ससुराल भेज दिया। बैलों को क्या मालूम, वे क्यों भेजे जा रहे हैं। समझे मालिक ने हमें बेच दिया। अपना यों बेचा जाना उन्हें अच्छा लगा या बुरा, कौन जाने ; पर झूरी के साले गया को घर तक गोंई ले जाने में दांतों पसीना आ गया। पीछै से हांकता तो दोनों दाएं-बाएं भागते, पगहिया पकड़कर आगे से खींचता, तो दोनों पीछे को ज़ोर लगाते। मारता तो दोनों सींग नीचे करके हुंकारते। अगर ईश्वर ने उन्हें वाणी दी होती, तो झूरी से पूछते—तुम हम गरीबों को क्यों निकाल रहे हो? हमने तो तुम्हारी सेवा करने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी। अगर इतनी मेहनत से काम न चलता था तो और काम लेते। हमें तो तुम्हारी चाकरी में मर जाना कबूल था। हमने

कभी दाने-चारे की शिकायत नहीं की। तुमने जो कुछ खिलाया, वह सिर झुकाकर खा लिया, फिर तुमने हमें इस ज़ालिम के हाथ क्यों बेच दिया ?

सन्ध्या समय दोनों बैल अपने नये स्थान पर पहुंचे। दिन-भर के भूखे थे ; लेकिन जब नांद में लगाये गये, तो एक ने भी उसमें मुंह न डाला। दिल भारी हो रहा था। जिसे उन्होंने अपना घर समझ रक्खा था, वह आज उनसे छूट गया था। यह नया घर, नया गांव, नये आदमी, सब उन्हें बेगानों-से लगते थे।

दोनों ने अपनी मूक भाषा में सलाह की, एक दूसरे को कनखियों से देखा और लेट गये। जब गांव में सोता पड़ गया, तो दोनों ने ज़ोर मार कर पगहे तुड़ा डाले और घर की तरफ़ चले ! पगहे बहुत मज़बूत थे। अनुमान न हो सकता था कि कोई बैल उन्हें तोड़ सकेगा ; पर इन दोनों में इस समय दूनी शक्ति आ गई थी। एक-एक झटके में रस्सियां टूट गईं।

झूरी प्रातःकाल सो कर उठा, तो देखा दोनों बैल चरनी पर खड़े हैं। दोनों की गरदनों में आधा-आधा गरांव लटक रहा है। घुटनों तक पांव कीचड़ से भरे हैं, और दोनों की आंखों में विद्रोहमय स्नेह झलक रहा है।

झूरी बैलों को देखकर स्नेह से गद्गद हो गया। दौड़कर उन्हें गले लगा लिया। प्रेमालिंगन और चुम्बन का वह दृश्य बड़ा ही मनोहर था।

घर और गांव के लड़के जमा हो गये और तालियां बजा-बजाकर उनका स्वागत करने लगे। गांव के इतिहास में यह घटना अभूतपूर्व न होने पर भी महत्त्वपूर्ण थी। बाल-सभा ने निश्चय किया, दोनों पशु-वीरों को अभिनन्दन-पत्र देना चाहिए। कोई अपने घर से रोटियां लाया, कोई गुड़, कोई चोकर, कोई भूसी।

एक बालक ने कहा—ऐसे बैल किसी के पास न होंगे।

दूसरे ने समर्थन किया—इतनी दूर से दोनों अकेले चले आये।

तीसरा बोला—बैल नहीं हैं वे, उस जनम के आदमी हैं।

इसके प्रतिवाद करने का किसी को साहस न हुआ।

झूरी की स्त्री ने बैलों को द्वार पर देखा, तो जल उठी। बोली—कैसे नमक-हराम बैल हैं, कि एक दिन भी वहां काम न किया। भाग खड़े हुए !

झूरी अपने बैलों पर यह आक्षेप न सुन सका—नमकहराम क्यों हैं। चारा-दाना कुछ न दिया होगा, तो क्या करते!

स्त्री ने रोब के साथ कहा—बस, तुम्हीं तो बैलों को खिलाना जानते हो, और तो सभी पानी पिला-पिलाकर रखते हैं।

झूरी ने चिढ़ाया—चारा मिलता तो क्यों भागते।

स्त्री चिढ़ी—भागे इसलिए, कि वे लोग तुम जैसे बुद्धुओं की तरह बैलों को सहलाते नहीं। खिलाते हैं, तो रगड़ कर जोतते भी हैं। यह दोनों ठहरे काम चोर, भाग निकले। अब देखूं, कहां से खली और चोकर मिलता है! सूखे भूसे के सिवा कुछ न दूंगी, खायें चाहे मरें।

वही हुआ। मजूर को कड़ी ताकीद कर दी गई, कि बैलों को खाली सूखा भूसा दिया जाय।

बैलों ने नांद में मुंह डाला, तो फीका-फीका। न कोई चिकनाहट, न कोई रस! क्या खायं। आशा-भरी आंखों से द्वार की ओर ताकने लगे।

झूरी ने मजूर से कहा—थोड़ी-सी खली क्यों नहीं डाल देता बे?

'मालकिन मुझे मार ही डालेंगी।'

'चुरा कर डाल आ।'

'ना दादा, पीछे से तुम भी उन्हीं की-सी कहोगे।'

(३)

दूसरे दिन झूरी का साला फिर आया और बैलों को ले चला। अब की उसने दोनों को गाड़ी में जोता।

दो-चार बार मोती ने गाड़ी को सड़क की खाई में गिराना चाहा; पर हीरा ने संभाल लिया। वह ज्यादा सहनशील था।

संध्या समय घर पहुंचकर उसने दोनों को मोटी रस्सियों से बांधा, और कल की शरारत का मजा चखाया। फिर वही सूखा भूसा डाल दिया। अपने दोनों बैलों को खली, चूनी, सब कुछ दी।

दोनों बैलों का ऐसा अपमान कभी न हुआ था। झूरी इन्हें फूल की छड़ी से भी न छूता था। उसकी टिटकार पर दोनों उड़ने लगते थे। यहां मार पड़ी।

आहत-सम्मान की व्यथा तो थी ही, उस पर मिला सूखा भूसा ! नांद की तरफ आंखें भी न उठाईं।

दूसरे दिन गया ने बैलों को हल में जोता ; पर इन दोनों ने जैसे पांव उठाने की क़सम खा ली थी। वह मारते-मारते थक गया ; पर दोनों ने पांव न उठाया। एक बार जब उस निर्दयी ने हीरा की नाक में खूब डंडे जमाये, तो मोती का गुस्सा काबू के बाहर हो गया। हल लेकर भागा। हल, रस्सी, जूआ, जोत, सब टूट-टाट कर बराबर हो गया। गले में बड़ी-बड़ी रस्सियां न होतीं, तो दोनों पकड़ाई न आते।

हीरा ने मूक भाषा में कहा—भागना व्यर्थ है।

मोती ने उसी भाषा में उत्तर दिया—तुम्हारी तो इसने जान ही ले ली थी। अबकी बड़ी मार पड़ेगी।

'पड़ने दो, बैल का जन्म लिया है, तो मार से कहां तक बचेंगे।'

गया दो आदमियों के साथ दौड़ा आ रहा है। दोनों के हाथों में लाठियां हैं।

मोती बोला—कहो तो दिखा दूं कुछ मजा मैं भी। लाठी लेकर आ रहा है।

हीरा ने समझाया—नहीं भाई ! खड़े हो जाओ।

'मुझे मारेगा, तो मैं भी एक-दो को गिरा दूंगा।'

'नहीं। हमारी जाति का यह धर्म नहीं है।'

मोती दिल में ऐंठ कर रह गया। गया आ पहुंचा, और दोनों को पकड़कर ले चला। कुशल हुई, कि उसने इस वक्त मार-पीट न की, नहीं मोती भी पलट पड़ता। उसके तेवर देखकर गया और उसके सहायक समझ गये, कि इस वक्त टाल जाना ही मसलहत है।

आज दोनों के सामने फिर वही सूखा भूसा लाया गया। दोनों चुपचाप खड़े रहे। घर के लोग भोजन करने लगे। उसी वक्त एक छोटी-सी लड़की दो रोटियां लिए निकली, और दोनों के मुंह में देकर चली गई। उस एक रोटी से इनकी भूख तो क्या शांत होती ; पर दोनों के हृदय को मानो भोजन मिल गया। यहां भी किसी सज्जन का वास है। लड़की भैरो की थी। उसकी मां मर चुकी थी। सौतेली मां उसे मारती रहती थी ; इसलिए इन बैलों से उसे एक प्रकार की आत्मीयता हो गई थी।

दोनों दिन-भर जोते जाते, डण्डे खाते, अड़ते। शाम को थान पर बांध दिये जाते, और रात को वही बालिका उन्हें दो रोटियां खिला जाती। प्रेम के इस प्रसाद की वह बरकत थी, कि दो-दो गाल सूखा भूसा खाकर भी दोनों दुर्बल न होते थे ; मगर दोनों की आंखों में, रोम-रोम में विद्रोह भरा हुआ था।

एक दिन मोती ने मूक भाषा में कहा—अब तो नहीं सहा जाता हीरा।

'क्या करना चाहते हो?'

'एकाध को सींगों पर उठाकर फेंक दूंगा।'

'लेकिन जानते हो वह प्यारी लड़की, जो हमें रोटियां खिलाती है, उसी की लड़की है, जो इस घर का मालिक है। वह बेचारी अनाथ न हो जायगी!'

'तो मालकिन को न फेंक दूं। वही तो उस लड़की को मारती है।'

'लेकिन औरत जात पर सींग चलाना मना है, यह भूले जाते हो।'

'तुम तो किसी तरह निकलने ही नहीं देते। तो आओ, आज तुड़ाकर भाग चलें।'

'हां, यह मैं स्वीकार करता हूं ; लेकिन इतनी मोटी रस्सी टूटेगी कैसे!'

'इसका उपाय है। पहले रस्सी को थोड़ा-सा चबा लो। फिर एक झटके में जाती है।'

रात को जब बालिका रोटियां खिलाकर चली गई, तो दोनों रस्सियां चबाने लगे ; पर मोटी रस्सी मुंह में न आती थी। बेचारे बार-बार जोर लगाकर रह जाते थे।

सहसा घर का द्वार खुला, और वही लड़की निकली। दोनों सिर झुकाकर उसका हाथ चाटने लगे। दोनों की पूछें खड़ी हो गईं। उसने उनके माथे सहलाये और बोली—खोले देती हूं। चुपके से भाग जाओ, नहीं यहां लोग तुम्हें मार डालेंगे। आज घर में सलाह हो रही है, कि इनकी नाकों में नाथ डाल दी जायं।

उसने गरांव खोल दिया ; पर दोनों चुपचाप खड़े रहे।

मोती ने अपनी भाषा में पूछा—अब चलते क्यों नहीं?

हीरा ने कहा—चलें तो ; लेकिन कल इस अनाथ पर आफत आयेगी। सब इसी पर संदेह करेंगे। सहसा बालिका चिल्लाई—दोनों फूफावाले बैल

भागे जा रहे हैं! ओ दादा! दादा! दोनों बैल भागे जा रहे हैं! जल्दी दौड़ो!

गया हड़बड़ाकर भीतर से निकला, और बैलों को पकड़ने चला वह दोनों भागे। गया ने पीछा किया। वह और भी तेज़ हुए। गया ने शोर मचाया। फिर गांव के कुछ आदमियों को साथ लेने के लिए लौटा। दोनों मित्रों को भागने का मौका मिल गया। सीधे दौड़ते चले गये। यहां तक कि मार्ग का ज्ञान न रहा। जिस परिचित मार्ग से आये थे, उसका यहां पता न था। नये-नये गांव मिलने लगे। तब दोनों एक खेत के किनारे खड़े होकर सोचने लगे, अब क्या करना चाहिए।

हीरा ने कहा—मालूम होता है, राह भूल गये।

'तुम भी तो बेतहाशा भागे। वहीं उसे मार गिराना था।'

'उसे मार गिराते, तो दुनिया क्या कहती? वह अपना धर्म छोड़ दे; लेकिन हम अपना धर्म क्यों छोड़ें।'

दोनों भूख से व्याकुल हो रहे थे। खेत में मटर खड़ी थी। चरने लगे। रह-रहकर आहट ले लेते थे, कोई आता तो नहीं है।

जब पेट भर गया, और दोनों ने आज़ादी का अनुभव किया, तो मस्त होकर उछलने-कूदने लगे। पहले दोनों ने डकार ली। फिर सींग मिलाये, और एक दूसरे को ठेलने लगे। मोती ने हीरा को कई क़दम पीछे हटा दिया, यहां तक कि वह खाई में गिर गया। तब उसे भी क्रोध आया। संभलकर उठा और फिर मोती से भिड़ गया। मोती ने देखा—खेल में झगड़ा हुआ चाहता है, तो किनारे हट गया।

(४)

अरे! यह क्या! कोई सांड़ डौंकता चला आ रहा है। हां, सांड़ ही है। वह सामने आ पहुंचा। दोनों मित्र बग़लें झांक रहे है। सांड़ पूरा हाथी है। उससे भिड़ना जान से हाथ धोना है; लेकिन न भिड़ने पर भी तो जान बचती नहीं नज़र आती। इन्हीं की तरफ़ आ भी रहा है। कितनी भयंकर सूरत है?

मोती ने मूक भाषा में कहा—बुरे फंसे। जान कैसे बचेगी। कोई उपाय सोचो।

हीरा ने चिंतित स्वर में कहा—अपने घमंड में भूला हुआ है। आरज्-बिनती न सुनेगा।

'भाग क्यों न चलें।'

'भागना कायरता है।'

'तो फिर यहीं मरो। बंदा तो नौ-दो ग्यारह होता है।'

'और जो दौड़ाये ?'

'तो फिर कोई उपाय सोचो जल्द !'

'उपाय यही है, कि उस पर दोनों जनें एक साथ चोट करें। मैं आगे से रगेदता हूं, तुम पीछे से रगेदो, दोहरी मार पड़ेगी, तो भाग खड़ा होगा। ज्यों ही मेरी ओर झपटे तुम बग़ल से उसके पेट में सींग घुसेड़ देना। जान जोखिम है ; पर दूसरा उपाय नहीं है।'

दोनों मित्र जान हथेलियों पर लेकर लपके। सांड़ को कभी संगठित शत्रुओं से लड़ने का तजरबा न था। वह तो एक शत्रु से मल्लयुद्ध करने का आदी था। ज्यों ही हीरा पर झपटा, मोती ने पीछे से दौड़ाया। सांड़ उसकी तरफ़ मुड़ा, तो हीरा ने रगेदा। सांड़ चाहता था कि एक-एक करके दोनों को गिरा ले ; पर यह दोनों भी उस्ताद थे। उसे यह अवसर न देते थे। एक बार सांड़ भल्लाकर हीरा का अन्त कर देने के लिए चला, कि मोती ने बगल से आकर उसके पेट में सींग भोंक दी। सांड़ क्रोध में आकर पीछे फिरा तो हीरा ने दूसरे पहलू में सींग चुभा दिया। आखिर बेचारा जख्मी हो कर भागा, और दोनों मित्रों ने दूर तक उसका पीछा किया। यहां तक कि सांड़ बेदम होकर गिर पड़ा। तब दोनों ने उसे छोड़ दिया।

दोनों मित्र विजय के नशे में झमते चले जाते थे।

मोती ने अपनी सांकेतिक भाषा में कहा—मेरा जी तो चाहता था, कि बचा को मार ही डालूं।

हीरा ने तिरस्कार किया—गिरे हुए बैरी पर सींग न चलाना चाहिए।

'यह सब ढोंग है। बैर को ऐसा मारना चाहिए, कि फिर न उठे।'

'अब घर कैसे पहुंचेंगे, यह सोचो।'

'पहले कुछ खा लें, तो सोचें।'

सामने मटर का खेत था ही। मोती उसमें घुस गया। हीरा मना करता रहा; पर उसने एक न सुनी। अभी दो ही चार ग्रास खाये थे कि दो आदमी लाठियां लिये दौड़ पड़े, और दोनों मित्रों को घेर लिया। हीरा तो मेड़ पर था, निकल गया। मोती सींचे हुए खेत में था। उसके खुर कीचड़ में धंसने लगे। न भाग सका। पकड़ लिया गया। हीरा ने देखा, संगी संकट में है, तो लौट पड़ा। फंसेंगे तो दोनों साथ फंसेंगे। रखवालों ने उसे भी पकड़ लिया।

प्रातःकाल दोनों मित्र कांजीहौस में बन्द कर दिये गये।

(५)

दोनों मित्रों को जीवन में पहली बार ऐसा साबका पड़ा, कि सारा दिन बीत गया और खाने को एक तिनका भी न मिला। समझ ही में न आता था, यह कैसा स्वामी है। इससे तो गया फिर भी अच्छा था। वहां कई भैंसें थीं, कई बकरियां, कई घोड़े, कई गधे; पर किसी के सामने चारा न था। सब ज़मीन पर मुरदों की तरह पड़े थे। कई तो इतने कमज़ोर हो गये थे, कि खड़े भी न हो सकते थे। सारा दिन दोनों मित्र फाटक की ओर टकटकी लगाये ताकते रहे; पर कोई चारा लेकर आता न दिखाई दिया। तब दोनों ने दीवार की नमकीन मिट्टी चाटनी शुरू की; पर इससे क्या तृप्ति होती।

रात को भी जब कुछ भोजन न मिला, तो हीरा के दिल में विद्रोह की ज्वाला दहक उठी। मोती से बोला—अब तो नहीं रहा जाता मोती!

मोती ने सिर लटकाये हुए जवाब दिया—मुझे तो मालूम होता है, प्राण निकल रहे हैं।

'इतनी जल्द हिम्मत न हारो भाई! यहां से भागने का कोई उपाय निकालना चाहिए।'

'आओ, दीवार तोड़ डालें।'

'मुझसे तो अब कुछ न होगा।'

'बस, इसी बूते पर अकड़ते थे!'

'सारी अकड़ निकल गई।'

बाड़े की दीवार कच्ची थी। हीरा मजबूत तो था ही, अपने नुकीले सींग दीवार में गड़ा दिये और ज़ोर मारा, तो मिट्टी का एक चिप्पड़ निकल आया। फिर तो उसका साहस बढ़ा। उसने दौड़-दौड़कर दीवार पर चोटें कीं और हर चोट में थोड़ी-थोड़ी मिट्टी गिराने लगा।

उसी समय कांजी हौस का चौकीदार लालटेन लेकर जानवरों की हाजिरी लेने आ निकला। हीरा का यह उजड्डपन देखकर उसने उसे कई डंडे रसीद किये और मोटी-सी रस्सी से बांध दिया।

मोती ने पड़े-पड़े कहा—आखिर मार खाई, क्या मिला ?

'अपने बूते-भर ज़ोर तो मार लिया।'

'ऐसा ज़ोर मारना किस काम का कि और बंधन में पड़ गये।'

'ज़ोर तो मारता ही जाऊंगा, चाहे कितने ही बंधन बढ़ते जायं।'

'जाने से हाथ धोना पड़ेगा।'

'कुछ परवाह नहीं। यों भी तो मरना ही है। सोचो, दीवार खुद जाती, तो कितनी जानें बच जातीं। इतने भाई यहां बन्द हैं। किसी की देह में जान नहीं है। दो-चार दिन और यही हाल रहा, तो सब मर जायंगे।'

'हां, यह बात तो है। अच्छा तो लो, फिर मैं भी ज़ोर लगाता हूं।'

मोती ने भी दीवार में उसी जगह सींग मारा। थोड़ी-सी मिट्टी गिरी और हिम्मत बढ़ी। फिर तो वह दीवार में सींग लगाकर इस तरह ज़ोर करने लगा, मानो किसी द्वन्द्वी से लड़ रहा है। आखिर कोई दो घंटे की ज़ोर-आजमाई के बाद दीवार ऊपर से लगभग एक हाथ गिर गई। उसने दूनी शक्ति से दूसरा धक्का मारा, तो आधी दीवार गिर पड़ी।

दीवार का गिरना था, कि अधमरे से पड़े हुए सभी जानवर चेत उठे। तीनों घोड़ियां सरपट भाग निकलीं। फिर बकरियां निकलीं। इसके बाद भैंसें भी खिसक गईं ; पर गधे अभी तक ज्यों के त्यों खड़े थे।

हीरा ने पूछा—तुम दोनों क्यों नहीं भाग जाते ?

एक गधे ने कहा—जो कहीं फिर पकड़ लिये जायं !

'तो क्या हरज है। अभी तो भागने का अवसर है।'

'हमें तो डर लगता है। हम यहीं पड़े रहेंगे।'

आधी रात से ऊपर जा चुकी थी। दोनों गधे अभी तक खड़े सोच रहे थे, भागें या न भागें। और मोती अपने मित्र की रस्सी तोड़ने में लगा हुआ था। जब वह हार गया तो, हीरा ने कहा—तुम जाओ, मुझे यहीं पड़ा रहने दो। शायद कभी भेंट हो जाय।

मोती ने आंखों में आंसू लाकर कहा—तुम मुझे इतना स्वार्थी समझते हो हीरा! हम और तुम इतने दिनों एक साथ रहे। आज तुम विपत्ति में पड़ गये, तो मैं तुम्हें छोड़कर अलग हो जाऊं।

हीरा ने कहा—बहुत मार पड़ेगी। लोग समझ जायंगे, यह तुम्हारी शरारत है।

मोती गर्व से बोला—जिस अपराध के लिए तुम्हारे गले में बंधन पड़ा, उसके लिए अगर मुझ पर मार पड़े तो क्या चिंता। इतना तो हो ही गया कि नौ-दस प्राणियों की जान बच गई। वह सब तो आशीर्वाद देंगे।

यह कहते हुए मोती ने दोनों गधों को सींगों से मार-मार कर बाड़े के बाहर निकाला और तब अपने बन्धु के पास आकर सो रहा।

भोर होते ही मुंशी और चौकीदार और अन्य कर्मचारियों में कैसी खलबली मची, इसके लिखने की जरूरत नहीं। बस इतना ही काफी है कि मोती की खूब मरम्मत हुई और उसे भी मोटी रस्सी से बांध दिया गया।

(६)

एक सप्ताह तक दोनों मित्र वहां बंधे पड़े रहे। किसी ने चारे का एक तृण भी न डाला। हां, एक बार पानी दिखा दिया जाता था। यही उनका आधार था। दोनों इतने दुर्बल हो गये थे, कि उठा तक न जाता था। ठठरियां निकल आई थीं।

एक दिन बाड़े के सामने डुग्गी बजने लगी और दोपहर होते-होते वहां पचास-साठ आदमी जमा हो गये। तब दोनों मित्र निकाले गये और उनकी देखभाल होने लगी। लोग आ-आकर उनकी सूरत देखते और मन फीका करके चले जाते। ऐसे मृतक बैलों का कौन खरीदार होता।

सहसा एक दढ़ियल आदमी जिसकी आंखें लाल थीं, और मुद्रा अत्यन्त कठोर, आया और दोनों मित्रों के कूल्हों में उंगली गोदकर मुंशीजी से बातें करने लगा। उसका चेहरा देखकर अन्तरज्ञान से दोनों मित्रो के दिल कांप उठे। वह कौन है और उन्हें क्यों टटोल रहा है, इस विषय में उन्हें कोई सन्देह न हुआ। दोनों ने एक दूसरे को भीत नेत्रों से देखा, और सिर झुका लिया।

हीरा ने कहा—गया के घर से नाहक भागे। अब जान न बचेगी।

मोती ने अश्रद्धा के भाव से उत्तर दिया—कहते हैं, भगवान् सबके ऊपर दया करते हैं। उन्हें हमारे ऊपर क्यों दया नहीं आती?

'भगवान् के लिए हमारा मरना-जीना दोनों बराबर है। चलो अच्छा ही है, कुछ दिन उनके पास तो रहेंगे। एक बार भगवान् ने उस लड़की के रूप में हमें बचाया था। क्या अब न बचायेंगे।'

'यह आदमी छुरी चलायेगा। देख लेना।'

'तो क्या चिंता है। मांस, खाल, सींग, हड्डी सब किसी-न-किसी काम आ जायंगी।'

नीलाम हो जाने के बाद दोनों मित्र उस दढ़ियल के साथ चले। दोनों की बोटी-बोटी कांप रही थी। बेचारे पांव तक न उठा सकते थे; पर भय के मारे गिरते-पड़ते भागे जाते थे; क्योंकि वह ज़रा भी चाल धीमी हो जाने पर ज़ोर से डंडा जमा देता था।

राह में गाय-बैलों का एक खेड़ हरे-हरे हार में चरता नज़र आया। सभी जानवर प्रसन्न थे, चिकने, चपल। कोई उछलता था, कोई आनन्द से बैठा पागुर करता था। कितना सुखी जीवन था इनका; पर कितने स्वार्थी हैं सब। किसी को चिन्ता नहीं, कि उनके दो भाई वधिक के हाथ पड़े कैसे दुखी हैं।

सहसा दोनों को ऐसा मालूम हुआ, कि यह परिचित राह है। हां, इसी रास्ते से गया उन्हें ले गया था। वही खेत, वही बाग़, वही गांव मिलने लगे। प्रतिक्षण उनकी चाल तेज़ होने लगी। सारी थकन, सारी दुर्बलता गायब हो गई। अहा! यह लो! अपना ही हार आ गया। इसी कुएँ पर हम पुर चलाने आया करते थे। हां, यही कुआं है।

मोती ने कहा—हमारा घर नगीच आ गया।

हीरा बोला—भगवान् की दया है।

'मैं तो अब घर भागता हूं।'

'यह जाने देगा?'

'इसे मैं मार गिराता हूं।

'नहीं-नहीं, दौड़कर थान पर चलो। वहां से हम आगे न जायंगे।'

दोनों उन्मत्त होकर बछड़ों की भांति कुलेलें करते हुए घर की ओर दौड़े। वह हमारा थान है। दोनों दौड़कर अपने थान पर आये और खड़े हो गये। दढ़ियल भी पीछे-पीछे दौड़ा चला आता था।

झूरी द्वार पर बैठा धूप खा रहा था। बैलों को देखते ही दौड़ा और उन्हें बारी-बारी से गले लगाने लगा। मित्रों की आंखों से आनन्द के आंसू बहने लगे। एक झूरी का हाथ चाट रहा था।

दढ़ियल ने जाकर बैलों की रस्सियां पकड़ लीं।

झूरी ने कहा—मेरे बैल हैं।

'तुम्हारे बैल कैसे? मैं मवेशीख़ाने से नीलाम में लिये आता हूं।'

'मैं तो समझता हूं, चुराये लिये आते हो। चुपके से चले जाओ। मेरे बैल हैं। मैं बेचूंगा, तो बिकेंगे। किसी को मेरे बैल नीलाम करने का क्या अख्तियार है?'

'जाकर थाने में रपट कर दूंगा।'

'मेरे बैल हैं। इसका सबूत यह है, कि मेरे द्वार पर खड़े हैं।'

दढ़ियल झल्लाकर बैलों को जबरदस्ती पकड़ ले जाने के लिए बढ़ा। उसी वक्त मोती ने सींग चलाया। दढ़ियल पीछे हटा। मोती ने पीछा किया। दढ़ियल भागा। मोती पीछे दौड़ा। गांव के बाहर निकल जाने पर वह रुका; पर खड़ा दढ़ियल का रास्ता देख रहा था। दढ़ियल दूर खड़ा धमकियां दे रहा था, गालियां निकाल रहा था, पत्थर फेंक रहा था। और मोती विजयी शूर की भांति उसका रास्ता रोके खड़ा था। गांव के लोग यह तमाशा देखते थे, और हंसते थे।

जब दढ़ियल हार कर चला गया, तो मोती अकड़ता हुआ लौटा।

हीरा ने कहा—मैं डर रहा था कि कहीं तुम गुस्से में आकर मार न बैठो।

'अगर वह मुझे पकड़ता, तो मैं बे मारे न छोड़ता।'

'अब न आयेगा।'

'आयेगा तो दूर ही से खबर लूंगा। देखूं कैसे ले जाता है।'

'जो गोली मरवा दे?'

'मर जाऊंगा; पर उसके काम तो न आऊंगा।'

'हमारी जान को कोई जान ही नहीं समझता।'

'इसीलिए कि हम इतने सीधे होते हैं।'

ज़रा देर में नांदों में खली, भूसा, चोकर, दाना भर दिया गया और दोनों मित्र खाने लगे। झूरी खड़ा दोनों को सहला रहा था और बीसों लड़के तमाशा देख रहे थे। सारे गांव में उछाह-सा मालूम होता था।

उसी समय मालकिन ने आकर दोनों के माथे चूम लिये।

प्रेम-तरु

(१)

डेढ़ सौ साल बीत चुके हैं, परन्तु देबी सुलक्खीका नाम आज भी उसी तरह जीता-जागता है। गुरदासपुरके ज़िलेमें कड़याला नामका एक छोटासा गांव है, जहां ज़ग्रादा आबादी हिन्दू जाठोंकी है। वहां आप किसीसे पूछिये, वह आपको देवी सुलक्खीकी समाधिका पता बता देगा। यहां प्रतिवर्ष मेला लगता है; स्त्रियां रंग-बिरंगे वस्त्र पहनकर आती हैं, और इसपर घीके दिए जलाती हैं। जब बेर पकते हैं, तो सबसे पहले बेर देवी सुलक्खीकी समाधिपर चढ़ाये जाते हैं, इसके बाद लोग खाते हैं। क्या मजाल कि इस समाधिपर बेर चढ़ाये बिना कोई बेरको मुंह भी लगा जाये। दीवालीकी रातको लोग पहले यहां दिए जलाते हैं; इसके बाद अपने घरमें जलाते हैं। किसीमें इतना साहस नहीं कि देवी सुलक्खीकी समाधिपर रोशनी किये बिना अपने घरमें रोशनी कर ले। ब्याहके बाद दुलहिनें पहले यहां आकर अपनी श्रद्धा प्रकट करती हैं, इसके बाद

अपनी ससुरालमें पांव धरती है। किसीमें हिम्मत नहीं कि गांवकी इस रीतिको तोड़ सके। देवीकी समाधि गांवके मध्यमें है। उसके ऊपर श्रद्धालुओंने संगमरमरकी एक सुदृढ़ और सुन्दर छत खड़ी कर दी है। इस छतके ऊपर एक झण्डा लहराता है, जो आसपासके गांवोंसे भी नज़र आता है। देवी सुलक्खीने कोई संग्राम नहीं जीता ; न कोई राज्य स्थापित किया ; न उसमें कोई विशेष आत्मशक्ति थी, जो लोगोंके दिलोंको पकड़ लेती ; न उसने लोगोंके लिए कोई बलिदान किया। वह एक ग़रीब, सीधी-सादी, अनपढ़, परन्तु सतवन्ती ब्राह्मण-कन्या थी, जो एक मूर्ख और हठी जाटके क्रोधका शिकार हो गई। उसने अपने पतिसे जो प्रण किया था, उसपर वह ध्रुवके समान अटल रही। इसमें सन्देह नहीं, वह साधारण ब्राह्मणोंसे भी ग़रीब थी, परन्तु पातिव्रत धर्मकी दौलतसे मालामाल थी। वह मर्यादाकी पूजारिन थी। उसने जो कहा था, वह करके दिखा दिया। उसके पतिने एक वृक्षको अपनी सन्तान कहा था, सुलक्खीने मरते दम तक पतिके इस वचनको निबाहा। यही बात है, जिसने उसे इतने दिनोंके बाद आज भी गांवमें जीती-जागती शक्ति बना रखा है। हिन्दू देवी-देवताओंका पूजन करते हैं, मुसलमान पीर-फकीरोंको मानते हैं ; परन्तु देवी सुलक्खीका शासन दोनोंके हृदयोंपर है। क्या मजाल, जो कोई उसकी अव-हेलना कर जाये।

(२)

देवी सुलक्खी इसी गांवके एक निर्धन ब्राह्मण जयचन्दकी स्त्री थी। जय-चन्दके घरमें स्त्रीके अतिरिक्त कोई भी न था——न मा, न बाप, न बहन, न भाई। बस, पति-पत्नी ही थे ; कोई बाल-बच्चा भी न था। कुछ दिन इलाज करते रहे, परन्तु जब सारा परिश्रम निष्फल हुआ, तो भाग्यविधानपर सन्तुष्ट होकर बैठ रहे। उस युगके ब्राह्मण लोग प्रायः नौकरी इत्यादि न करते थे ; न धन-दौलतमें उस समय ऐसी मोहनी थी, न लोग धनको दुर्लभ समझकर उसकी प्राप्तिके लिए अधीर रहते थे। थोड़े ही में गुज़ारा हो जाता था। एक कमाता था, दस खा लेते थे। आज वह ज़माना कहां ? दस कमानेवाले हों, एक बेकारको नहीं खिला सकते। उस समयके ब्राह्मण सारे-सारे दिन पूजा-पाठमें लगे रहते

थे। खाने-पीनेको जाट जजमानोंके यहांसे आ जाता था। दोनोंको किसी प्रकारकी चिन्ता न थी। हां, कभी-कभी निःसन्तान होनेपर कुढ़ा करते थे। यदि एक भी बच्चा हो जाता, तो दोनोंका मन बहल जाता। उनका जीवन मधुर, प्रकाशमय तथा विनोदपूर्ण हो जाता। उनको कोई शुगल मिल जाता। अब ऐसा मालूम होता था, जैसे उनका घर सूना-सूना है। जैसे उनके लिए दुनिया बिलकुल फीकी-फीकी है। जैसे उनका जीवन लम्बी, अंधेरी, समाप्त न होनेवाली रात है, जिसमें कोई तारा नहीं, कोई चांद नहीं, केवल निराशाके काले बादल घिरे हुए हैं। उन बादलोंमें कभी-कभी, थोड़ी देरके लिए, आशाकी बिजली भी चमक जाती थी ; परन्तु उससे उनके दिलोंका अन्धकार बढ़ता ही था, घटता न था। इसी तरह कई वर्ष गुज़र गये।

एक दिन जयचन्दने अपने आंगनके कोनेमें नवजात बच्चेके समान बेरीका एक पौदा देखा, जो स्वयं ही उग आया था। पौदा बहुत छोटा था, और आम पौदोंसे ज़रा भी भिन्न न था, किन्तु जयचन्दको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो यह पौदा न था, प्रकृतिका अद्भुत सौन्दर्य था। वे उसके छोटे-छोटे रग-रेशे और चिकनी-चिकनी ज़रा-ज़रासी कोपलें देखकर बेसुध-से हो गये। शान्तिके पुतलेपर अशान्ति छा गई। दौड़े-दौड़े सुलक्खीके पास गये, और बोले—"आओ, कुछ दिखाऊं। भगवानने हमारे घर बूटा लगाया है, बड़ा सुन्दर है।"

सुलक्खीने जाकर देखा, तो एक नन्हा-सा पौदा था। बोली—"क्या है यह? ऐसे प्रसन्न क्यों हो रहे हो?"

जयचन्द—"बेरीका पौदा है। अभी छोटा है, चन्द दिनोंमें बड़ा हो जायगा। इसमें हरे-हरे पत्ते आयंगे। मीठे-मीठे फल लगेंगे। लम्बी-लम्बी डालियां फैलाकर खड़ा होगा।"

सुलक्खीने पुलकित होकर कहा—"सारे आंगनमें छाया हो जायगी।"

जयचन्द—"हर साल बेर लगेंगे। खूब मीठे होंगे।"

सुलक्खी—"मैं इसे सदा जलसे सींचा करूंगी। थोड़े ही दिनोंमें बड़ा हो जायगा। कब तक फलेगा?"

जयचन्द—(पौदेको प्रेम-भरी दृष्टिसे देखकर)—"चार वर्ष बाद। तुमने देखा, कैसा प्यारा लगता है। बड़ा होकर और भी प्यारा लगेगा। कैसा चिकना है, कैसा सुन्दर है! देखकर तबीयत हरी हो जाती है!"

सुलक्खी—(सरलतासे)—गरमीके दिन हैं, कुम्हला जायगा। मुझे तो अब भी घबराया हुआ मालूम होता है। ज़रा कोपलें तो देखो, जैसें प्यासके मारे व्याकुल हो रही हों। कहिये, ताज़ा जल भर लाऊं? गरमीसे बड़ों-बड़ोंका बुरा हाल है। यह तो बिलकुल नन्ही-सी जान है! (चुटकी बजाकर) अभी भर लाऊंगी, दो मिनटमें।"

जयचन्द—"इस समय तुम कहां जाओगी, मैं जाता हूं।"

मगर सुलक्खीने कलसा उठाया, और चली गई थोड़ी देर बाद दोनों पति-पत्नी उस छोटेसे पौदेको पानीसे सींच रहे थे। ऐसे प्यारसे, जैसे उनका जीता-जागता बच्चा हो; ऐसी भक्तिसे, जैसे उनका देवता हो; ऐसी श्रद्धासे, जैसे कोई अमोल वस्तु हो। पौदा सचमुच धूपसे कुम्हलाया हुआ था। ठंडा पानी पीकर उसने आंखें खोल दीं। सुलक्खी बोली—"देख लो! अब इसमें ताज़गी आ गई है, या नहीं? क्यों?"

जयचन्द—"मुझे तो ऐसा मालूम होता है, जैसे यह मुस्करा रहा है।"

सुलक्खी—"और मुझे ऐसा मालूम होता है, जैसे यह बातें कर रहा है। कहता है—मैं तुम्हारा बेटा हूं।"

जयचन्द—"भाई, यह बात तो तुमने मेरे मुंहसे छीन ली। मैं भी यही कहने जा रहा था। हां, बेटा तो है ही। इसे खूब प्यार करोगी न?"

सुलक्खी—"तुम्हारे कहनेकी क्या आवश्यकता है? अपने बेटेसे कौन प्यार नहीं करता?"

जयचन्द—"मैं डरता हूं, कहीं मुझे न भूल जाओ। बड़ी आयुमें बालक पाकर स्त्रियां पतिको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखने लगती हैं, मगर मुझसे तुम्हारी लापरवाही बर्दाश्त न होगी। यह अभीसे कहे देता हूं।"

सुलक्खी—"चलो हटो! तुम्हें तो अभीसे डाह होने लगी।"

जयचन्द हंसते-हंसते घरके भीतर चले गये, परन्तु सुलक्खी कई घंटे वहीं धूपमें खड़ी बेरीकी ओर देखती रही और खुश होती रही। आज भगवानने उसके घर बूटा लगा दिया था। आज उसको ऐसा अनुभव हुआ, जैसे वह बांझ नहीं रही—पुत्रवती हो गई है। अबोध बालक छाछको दूध समझकर खुश हो रहा था।

(३)

अब जयचन्द और सुलक्खी दोनोंको एक काम मिल गया। कभी बेरीको पानी देते कि कुम्हला न जाय ; कभी खुरपी लेकर उसके आसपासकी ज़मीन खोदते कि उसे अपनी ख़ूराक प्राप्त करनेमें दिक़्क़त न हो ; कभी उसके गिरदा-गिर्द बाड़ लगाते कि कोई जीव-जन्तु हानि न पहुंचाये ; कभी दो चारपाईयां खड़ी करके उसपर चादर फला देते कि गरमीमें सूख न जाय। लोग यह देखते थे, और उनकी इस मूर्खता (?) पर हंसते थे। कोई-कोई कह भी देता था कि इनकी अक्ल मारी गई है, साधारण वृक्षको पुत्र समझ बैठे हैं।

मगर प्रेमके इन सरल-हृदय भक्तोंको इसकी ज़रा भी परवा न थी। उन्हें उस बेरीकी कोपलें बढ़ती देखकर वैसी ही प्रसन्नता होती थी, जैसी माता-पिताको बच्चेके हाथ-पांव बढ़ते देखकर होती है। जयचन्द बाहरसे आते, तो सबसे पहले बेरीकी कुशल-क्षेम पूछते। सुलक्खी रातको कई-कई बार चौंककर उठती, और बेरीको देखने जाती—शायद उसे भय था कि कोई इस अनमोल वस्तुको उखाड़कर न ले जाय। ऐसे प्रेम, ऐसी सावधानीसे किसी गरीब विधवाने अपने एकमात्र पुत्रका भी लालन-पालन शायद ही किया हो।

धीरे-धीरे यह प्रेम-तरु बढ़ने लगा। अब वह जमीनसे बहुत ऊपर उठ गया था। उसका तना भी मोटा हो गया था। डालें भी बड़ी-बड़ी हो गई थी। रातके समय ऐसा सन्देह होता था, जैसे वह बाहें फैलाकर किसीसे गले मिलनेको अधीर हो रहा है। सुलक्खी उसे अपनी बेटी और जयचन्द उसे अपना बेटा कहते थे। उसे देखकर उनकी आंखें चमकने लगती थीं। उनका हृदय-कमल खिल उठता था। यह वृक्ष साधारण वृक्ष न था ; उनके रात-दिनके परिश्रमका परिणाम था। इसके लिए उन्होंने अपनी रातोंकी नींद क़ुर्बान की थी। इसपर उन्होंने अपने शरीर और आत्माकी सम्पूर्ण शक्तियां खर्च कर दी थीं।

इसी तरह प्रेम्-मुहब्बत और लाड़-प्यारके चार वर्ष गुज़र गये, और बेरीके फलनेके दिन नज़दीक आ गये। जयचन्द और सुलक्खी दोनोंके पांव ज़मीनपर न पड़ते थे। उनकी ख़ुशीका ठिकाना न था। जब जब बौर आया, तो दोनों सारा-सारा दिन आंगनमें बैठे उसकी रक्षा किया करते थे। क्या मजाल, जो कोई पास भी फटक जाय !! जयचन्द अब पहलेकी तरह पूजा-पाठके पाबन्द

न रहे थे। सुलक्खीको अब चरखेका ख़याल न था। साधारण वृक्षके प्रेमने उन्हें इस प्रकार बांध लिया था कि ज़रा हिलते भी न थे। हर समय इसीकी बातें करते थे। उस वक्त वह इस संसार से बाहर चले जाते थे। सुलक्खी कहती—"तुम्हारे ख़यालमें यह पीले रंगका बौर होगा, मगर मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि मेरी बेटीने सोनेके भूषण पहने हैं। किस शानसे खड़ी है, देखकर मन नाचने लगता है।"

जयचन्द कहते—"यह मेरे बेटेकी पहली कमाई है। इसे बौर कौन कहता है? यह तो मोहरें हैं, बल्कि मुझे तो इसके सामने मोहरें भी तुच्छ मालूम होती हैं। उन्हें मनुष्य बनाता है। इसे स्वयं भगवान् अपने हाथोंसे संवारता है। इसके सामने मोहरें और अशरफ़ियां किस गिनतीमें हैं? थोड़े दिनोंमें यह बेर बन जायंगे। उनमें जो सुन्दरता, जो यौवन, जो मिठास होगी, वह सोनेके उन सिक्कोंमें कहां?"

सुलक्खी कहती—"जिस दिन पहले बेर उतरेंगे, उस दिन मिठाई बांटूगी।"

जयचन्द कहते—"मैं रतजगा करूंगा गांवके सारे लोगोंको बुलाऊंगा। सारी रात रौनक़ रहेगी।"

सुलक्खी कहती—"ख़ूब ख़र्च करना पड़ेगा।"

जयचन्द कहते—"लोग बेटोंके ब्याह-शादीमें लुटाते हैं। मेरे लिए यही बेटेका ब्याह है। सब कुछ ख़र्च हो जाय, जब भी परवा नहीं; परन्तु एक बार दिलके अरमान निकल जायं। कोई अभिलाषा शेष न रह जाय।"

यह सुनकर सुलक्खी किसी दूसरी दुनियामें पहुंच जाती थी। उसके हृदय-रूपी समुद्रमें खुशीकी तरंगें उठने लगती थीं। जैसे चांदनी रातमें समुद्रमें ज्वार-भाटा आ जाय।

(४)

आख़िर वह दिन भी आ गया, जिसकी पति-पत्नी दोनों प्रतीक्षा कर रहे थे। पहले दिन बेरीके दो सौ बेर उतरे। यह बेर इतने मीठे, ऐसे गोल-गोल, ऐसे लाल, इतने सुन्दर और चिकने थे कि देखकर जी ख़ुश हो जाता था। दोपहरका समय था। सुलक्खीने पुराने ज़मानेकी हिन्दू स्त्रियोंकी तरह नये कपड़ पहने। लाल

रंगकी फुलवार ओढ़ी। नाकमें नथ पहनी, और जाकर जयचन्दके सामने खड़ी हो गई। जैसे उस दिन उसके यहां कोई ब्याह-शादी थी। उसको इन वस्त्रोंमें देखकर जयचन्द मुग्ध-सा हो गया। थोड़ी देर तक दोनोंके मुंहसे कोई बात न निकली। आंखें मूंदकर चुपचाप इस अलौकिक आनन्दसे आनन्दित होते रहे। तब जयचन्दने बेर टोकरीमें रखे और सुलक्खीसे कहा—"जा! जाकर जजमानोंके यहां गिनकर बीस-बीस दे आ।"

सुलक्खीने साहसपूर्ण नेत्रोंसे पतिको देखा, और प्यार-भरी आवाज़में कहा—"ईश्वर करे, खूब मीठे हों। लोग बे-अखत्यार वाह-वाह कहें। आकर बधाइयां दें। कहें ऐसे बेर सारे गांवमें नहीं हैं।"

जयचन्दने दस बेर अपने लिए रख लिये थे। उनकी ओर ताकते हुए बोले—"तू ख़ामख़ा मरी जाती है। दूसरोंके लिए मीठे न होंगे, न सही, पर हमारे लिए इनसे मीठी वस्तु संसारमें और कोई नहीं है। यह मैं चखे बिना कह सकता—हूं। आ। देर हुई जाती है। तू बांटकर आ जाय, तो एक साथ खायं।"

सुलक्खीने पतिकी ओर प्यारसे देखकर उत्तर दिया—"मैं एक-आध घरमें दे लूं, तो तुम खा लेना। मेरी राह देखनेकी क्या आवश्यकता है?"

जयचन्द—"वाह! आवश्यकता क्यों नहीं? एक साथ खायंगे। अकेलेमें क्या मज़ा आयगा। ज़रा जल्दी लौट आना। नहीं लड़ाई होगी।"

सुलक्ख़ीने छोटासा घूंघट निकाला, और बेरोंकी टोकरी उठाकर बांटने चली जैसे कोई ब्याह-शादीकी मिठाई बांटने जा रही हो। थोड़ी देरमें एक जजमान दौड़ता हुआ आया, और बोला—"पंडितजी! बधाई है। बेर खूब मीठे निकले।"

जयचन्दका दिल धड़कने लगा। मुंह गुलाब हो गया। बोले—"अच्छा, आपने खाये हैं?"

जजमान—"खाये क्या हैं! बेर चखा है। मगर वाह भई, वाह! गुड़से भी मीठा है। आमसे भी मीठा है। कोई और बेर है, या नहीं?"

जयचन्दकी बाछें खिली जाती थीं। उन्होंने दो बेर उठाकर जजमानके हाथमें दे दिये। जजमान खाता जाता था, और तारीफ़ करता जाता था। कहता

था—"पंडितजी, यह बेर क्या हैं, खांड़के खिलौने हैं। मेरी इतनी आयु हो गई, मगर ऐसे बेर मैंने आज तक नहीं खाये। परमात्मा जाने, इनमें कैसा स्वाद है, मालूम होता है, जैसे कोई खुशबू भरी है, जैसे किसीने इत्र भर दिया है।"

जयचन्द—"परमात्माने हमारी मेहनत सफल कर दी।"

जजमान—"सारे इलाक़ेमें ऐसे बेर मिल जायं, तो मूंछे मुड़वा दूं। दूर-नज़दीकसे लोग आया करेंगे। मालूम होता है, आपने अभी तक नहीं चखे।"

जयचन्द—"जजमानोंको भेंट कर लूं, फिर खाऊंगा।"

जजमान—"हैरान रह जाओगे। ऐसे बेर काबुल, कन्धारमें भी न होंगे। हमारे घरमें दस-बीस बेरोंसे क्या बनता है? देखते-देखते खतम हो गये। और बेर कब तक उतरेंगे? हम बीस और लेंगे।"

जयचन्द—"आपका अपना वृक्ष है। दो-चार दिन तक और उतरेंगे, तो भिजवा दूंगा। मुझे दूसरोंको खिलाकर जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, वह खाकर नहीं होती। लीजिए, दो और ले जाइये। छै बाकी हैं। हम दोनों तीन-तीन खायंगे। हमें यही बहुत हैं।"

थोड़ी देर बाद एक और जजमान आया। उसने भी इतनी तारीफ़ की कि जयचन्दकी आंखें चमकने लगीं। बोला—"यह प्रेमका वृक्ष है, इसमें प्रेमके बेर लगे हैं। इससे मीठे संसार-भरमें न होंगे। भाई, इतनी मेहनत कौन करता है? आप दोनोंने एक मिसाल क़ायम कर दी। दो बेर खाये हैं, दो और मिल जायं, तो मज़ा आ जाय। फ़ालतू हैं, या नहीं?"

जयचन्दने मुस्कराकर कहा—"छै बचे हैं। दो आप ले जाइये। दो-दो हम खा लेंगे।"

जजमान—"यह तो अन्याय होगा। रहने दीजिए। फिर सही और बेर कब तक उतरेंगे?"

जयचन्द—"आप ले जाइये। हमें स्वाद देखना है। पेट थोड़े भरना है! (बेर हाथपर रखते हुए) रात रतजगा है। आइयेगा ना? कोई बेटेका ब्याह करता है। कोई.... पोती-पोतेका मूंडन करता है। मेरी आयुमें यही एक दिन आया है! यही अन्तिम होगा। और क्या?"

जजमान—"ज़रूर आऊंगा, पंडितजी ! मगर बेर ख़ूब मीठे हैं अभी तक मुंहसे सुगन्ध आ रही है।

यह कहकर जजमान चला गया। इतनेमें दो और आ गये। पंडितजीके पास चार बेर बाक़ी थे। वह उनकी भेंट हो गये। अब उनके पास एक भी बेर न था। पंडितजी दिलमें डरे सुलक्खीसे क्या कहूंगा। कहीं ख़फ़ा न हो जाय। तैशमें न आ जाय। परन्तु सुलक्खी इस प्रकारकी स्त्री न थी। सारा माजरा सुनकर बोली—"आपने बहुत अच्छा किया। हमारा क्या है? फिर खा लेंगे। अपनी बेरी है, जब चाहा, दो बेर तोड़ लिये। कहीं मांगने थोड़े जाना है? और क्या?"

जयचन्द—"गांवमें धूम मच गई है। कहते हैं—ऐसे बेर दूर-दूर तक नहीं हैं।"

सुलक्खीकी आंखोंमें आंसू आ गये। नथको संभालते हुए बोली—"सभी कहते हैं—और दो। बेर क्या हैं, खोयेके पेड़े हैं।

जयचन्द—"कहते हैं, इनमें सुगन्ध भी है।"

सुलक्खी—"जो खाता है, चटख़ारे लेता है। कहते हैं—ऐसा मज़ा न आममें है, न संगतरेमें।"

जयचन्द—"यह सब तुम्हारे परिश्रमका फल है। रोज़ पानी दिया करती थीं। तुम्हारे हाथोंका पानी अमृत हो गया।"

सुलक्खी—"और जो तुम कपड़ोंसे छाया करते फिरते थे, उसका कोई असर ही नहीं? यह सब उसका नतीजा है।"

जयचन्द—"तुम देरमें लौटीं। नहीं तो एक-एक खा लेते। अब दो-चार दिनके बाद पकेंगे।"

(५)

परन्तु जयचन्दके भाग्यमें बेर पकाना लिखा था, बेर खाना न लिखा था। रतजगेके बाद उनको सहसा बुख़ार हो गया। गांवमें जैसा इलाज हो सकता था, हुआ। हकीमने समझा, थकावटका बुख़ार है। साधारण औषधियोंसे उतर जायगा; परन्तु यह थकावटका बुख़ार न था, मृत्युका बुख़ार था। जिसकी

दवा दुनियाके बड़े-से-बड़े हकीमके पास भी नहीं। चौथे दिन प्रातः ही जयचन्द सुलक्खीसे घंटे-भर धीरे-धीरे बातें करते रहे। बातें क्या करते रहे, रोते और रुलाते रहे! दुनियादारीकी बातें समझाते रहे। ये बातें उनके जीवनका सार थीं। सुलक्खी ये बातें सुनती थी, और रोती जाती थी। इस समय उसका दिल बसमें न था। वह चाहती थी, जिस तरह भी हो, पतिको बचा ले। यदि उसके बसमें होता, तो वह अपनी जान देकर भी उन्हें बचा लेती। इसमें उसे ज़रा भी संकोच न था, परन्तु जो भाग्यमें बदा हो, उसे कौन रोक सकता है? थोड़ी देर बाद इधर संसारका सूर्य्य उदय हो रहा था, उधर जयचन्दके जीवन और सुलक्खीकी दुनियाका सूर्य हमेशाके लिए अस्त हो गया।

अब सुलक्खी संसारमें बिलकुल अकेली थी। अब उसका सिवा एक छोटे भाईके और कोई भी न था। थोड़े दिन रोती रही। इसके बाद चुप हो गई, इसलिए नहीं कि मृत्युका शोक भूल गई, बल्कि इसलिए कि उसकी आंखोंमें आंसू न रहे थे। रो-रोकर आंसू भी समाप्त हो जाते हैं, मगर उसके दिलके घाव हमेशा हरे थे। उसे किसी पहलू कल न पड़ती थी। पतिकी मृत्युके बाद किसीने उसे हंसते नहीं देखा। न अच्छा खाती थी, न अच्छा पहनती थी। उसका ज्यादा समय दुःखी लोगोंकी सेवामें गुज़रता था। गांवमें कोई बीमार होता, सुलक्खी पहुंच जाती। फिर उसे सोना हराम था। सरहानेसे न उठती थी। हर समय सेवामें लगी रहती थी। जैसे मा बच्चेकी तीमारदारी कर रही हो। जब वह स्वस्थ हो जाता, तब घर लौटती। उसकी इन सेवाओंने गांववालोंके मन मोह लिये। ये कहते थे—यह स्त्री नहीं, देवी है। अब उन्हें मालूम होता था कि यदि यह न हो, तो गांववालोंपर विपत्ति टूट पड़े। उसे दुनियाकी किसी वस्तुसे प्रेम न था—किसी वस्तुकी परवा न थी। जैसे उसने संन्यास ले लिया हो, जैसे उसने दुनियाकी हरएक वस्तुका परित्याग कर दिया हो।

परन्तु एक वस्तु उसे अब भी प्यारी थी। वह उसकी बेरी थी। वह अब भी उसका उसी तरह ख़याल रखती थी। उसको उसी तरह पानी देती थी। उसी तरह देख-भाल करती थी। गरमीमें उसके पत्तोंको कुम्हलाया हुआ देखकर अब भी उसी तरह अधीर हो जाती थी। रातको चौंक-चौंककर अब भी उसे देखती थी। बाहर जाती, तो भाई लछमनसे कह जाती, बेरीका ख़याल रखना।

जब बेर लगते, तो दो-तीन महीने उसके पाससे न उठती ; कहीं ऐसा न हो, जानवर आकर कुतर जायं। जब बेर उतरते, तो सारे गांवमें बांटती, जिस तरह पहले साल बांटे थे, मगर आप बेरोंको मुंह न लगाती थी। न पहले साल खाये थे, न अब खाती थी। उसका भाई लछमन खूब पेट भरकर खाता था। वह कहता था, यह बेर इस दुनियाके नहीं, स्वर्गपुरीके हैं। कभी कहता, ऐसे बेर स्वर्गमें भी न होंगे। बहनसे कहता, तू भी चखकर देख। वह कहती—"वह खाते, तो मैं भी खाती। उन्होंने नहीं खाये, मैं भी नहीं खाऊंगी।"

लछमन कहता—"तू अभागी है।"

सुलक्खी उत्तर देती—"अभागी न होती, तो वह क्यों मरते? अब तो सारी आयु इसी प्रकार गुज़र जायगी।"

गुरदासपुरके कई दूकानदारोंने बेरी मोल लेनी चाही, पर सुलक्खीने साफ़ इनकार कर दिया। कहा—"मरती मर जाऊंगी, मगर बेरी न दूंगी।"

एक दूकानदारने कहा—"दो सौ रुपया ले ले, बेरी दे दे।"

सुलक्खीने उत्तर दिया—"तू दो हज़ार दे, जब भी न बेचूं। दो लाख दे, जब भी न बेचूं।"

दूकानदार—"तू अजब स्त्री है। न खाती है। न बेचती है।"

सुलक्खी—"बांटती तो हूं। मेरे लिए यही खुशीकी बात है। मैं नहीं खाती, तो क्या हुआ, सारा गांव तो खाता है।"

दूकानदार—"परन्तु इससे तुझे क्या मिल जाता है। जिसको बेर खानेकी इच्छा होगी, पैसे देकर ख़रीद लेगा।"

सुलक्खीने दूकानदारकी ओर करुणापूर्ण दृष्टिसे देखा, और कहा—"मैं ब्राह्मणी हूं, कुंजड़िन नहीं, जो अपनी बेरीके बेर बेचूं। न भाई! यह न होगा। तू अपने रुपये ले जा, मुझे यह सौदा मंजूर नहीं।"

एक दूसरे दूकानदारने कहा—"तू बेरी बेच दे, तो मैं पांचसौ दूं। बोल, है इरादा?"

सुलक्खी—"यह बेरी नहीं है। हमारी औलाद है। अपनी औलाद कौन बेचता है?"

दूकानदार—"यह तेरा वहम है। आदमीकी सन्तान आदमी होता है, वृक्ष नहीं होता।"

सुलक्खी—"यह अपना-अपना विचार है। कई आदमी ऐसे भी हैं, जो ठाकुरको पत्थर कहते है।"

दूकानदार—"मुझे तो वृक्ष ही मालूम होता है।"

सुलक्खी—"तेरी आंखोंमें वह ज्योति कहां, जो इसकी असली सूरत देख सके? वृक्षोंके बेर ऐसे मीठे कहां होते हैं!"

लछमन अब तक चुप था, यह सुनकर बोला—"ऐसे मीठे बेर तुमने कहीं और भी देखे हैं? एक-एक बेर एक आनेको भी सस्ता है।"

दूकानदार—"यह ठीक है! किन्तु आखिर है तो बेरी।"

सुलक्खी—"नहीं भैय्या! यह बेरी नहीं है। मेरे स्वामीकी यादगार है। जो अपने स्वामीकी यादगारको बेच दे, उसको मरकर नरक भी न मिलेगा।"

दूकानदार—"अब इसका क्या उत्तर दूं? पांचसौ रुपये थोड़े नहीं होते। तेरी सारी आयु सुखसे कट जायगी।"

सुलक्खी—"भैय्या! जो सुख मुझे इसको पानी देकर होता है, वह सुख रुपये लेकर कभी न होगा।"

दूकानदार—"तो पानी देनेसे तुझे कौन रोकता है? जितना चाहे, पानी दे। अगर तेरा हाथ पकड़ जाऊं, तो जो चोरकी सजा, वह मेरी सजा।"

सुलक्खी—"परन्तु जो बात अब है, वह फिर कहां? अब अपना है, फिर पराया हो जायगा। अब बेर सारे गांवमें बांटती हूं, फिर तू हाथ भी न लगाने देगा। गांवके जिन लोगोंके पास पैसे नहीं, वह क्या करेंगे? बेरोंको देखेंगे, और ठंडी सांस भरकर रह जायंगे। मुझे कोसेंगे, दिलमें गालियां देंगे। अब सबको मुफ्त मिलते हैं, फिर किसीको भी न मिलेंगे। गांवके छोटे-छोटे बच्चे कहेंगे, कैसी ज़ालिम है, चार पैसोंकी खातिर बेरी बेच दी। न भाई! यह कलंकका टीका न खरीदूंगी। मैं गरीब ही भली।"

यह कहकर सुलक्खी बेरीके पास चली गई, और उसकी डालियोंपर हाथ फेरने लगी।

और यह उस स्त्रीका हाल था, जिसने किसी पाठशालामें विद्या नहीं पढ़ी थी ; जिसने धर्म-कर्मपर कोई व्याख्यान न सुना था ; जिसके पास खानेको कुछ न था ; जो अपने जजमानोंके दानपर निर्वाह करती थी ; परन्तु उसका हृदय कितना विशाल, कितना पवित्र था। उसने पड़ोसियोंके कर्तव्यको किस क़दर ठीक समझा था। ऐसी पवित्रहृदया, सुशीला तथा सभ्य देवियां संसारमें कम जन्म लेती हैं।

(६)

कई वर्ष बीत गये।

ज्येष्ठका महीना था। सुलक्खी बेरीके सारे बेर बांट चुकी थी। अब बेरीपर एक बेर भी बाक़ी न था। सुलक्खी बेरीके पास खड़ी उसकी फलोंसे खाली डालियोंको देखती थी, और खुश होती थी कि इस सालका कर्तव्य भी पूरा हो गया। इतनेमें उसके एक जजमान हाड़ीरामने आकर सुलक्खीको नमस्कार किया, और बोला––"पंडतानीजी! हमारे बेर कहां हैं?"

सुलक्खीके सिरपर जैसे बिजली-सी गिर पड़ी। हैरान थी, क्या कहे, क्या न कहे। हाड़ीराम गांवमें सबसे उजड्ड जाट था। ज़रा-ज़रासी बातपर जोशमें आ जाता था, और मरने-मारनेको तैयार हो जाता था। उसकी लाल आंखें देखकर सारा गांव सहम जाता था। वह अपने परिवारसहित दो महीनेसे कहीं बाहर गया हुआ था। सुलक्खी एक-दो बार उसके मकानपर गई, और किवाड़ बन्द पाकर लौट आई। इसके बाद वह उसे भूल-सी गई, और बेर समाप्त हो गये। और अब––हाड़ीराम उसके सामने खड़ा था। सुलक्खीने उसकी ओर ख़तावार निगाहोंसे देखा, और कहा––"जजमान! बेर तो ख़तम हो गये।"

हाड़ीरामने ज़रा गरम होकर कहा––"वाह! खतम कैसे हो गये? हमें तो मिले ही नहीं!

सुलक्खी––"तब तुम जाने कहां चले गये थे? दो बार तुम्हारे मकानपर लेकर गई, दोनों बार दरवाजा बन्द था। लौट आई। इसके बाद मुझे ख़याल नहीं रहा।"

हाड़ीराम--(त्योरियां चढ़ाकर)--"ख़याल क्यों नहीं रहा ? इतनी बच्ची भी तो नहीं हो।"

सुलक्खी--(शान्तिसे)--"अब जजमान, तुमसे बहस कौन करे, भूल हो गई ! अगले साल दुगने ले लेना।"

हाड़ीराम--"खाना तो कभी नहीं भूलती हो, न फसलपर गल्ला मांगना भूलती हो। हमारे बेरोंका समय आया, तो भूल गईं !"

सुलक्खी--"तुम बाहर चले गये थे। क्या करती ?"

हाड़ीराम--"बेरीसे लगे रहने देती। मैं आता उतार लेता।"

सुलक्खी--"और जो पककर गिर जाते, तो फिर ! अब किसीके मुंहमें तो पड़ गये। उस अवस्थामें किसीके भी काम न आते।"

हाड़ीरामके नेत्रोंसे अग्निकी ज्याला निकलने लगी। गरजकर बोला--"मेरे बेर जब मेरे काम न आयं, तो मुझे क्या, चाहे रहें, चाहे मिट्टीमें मिल जायं। मेरे लिए एकसी बात है। तुम दूसरोंको देनेवाली कौन थीं ?"

अब सुलक्खीको भी क्रोध आया। ज़रा तेज होकर बोली--बेरी मेरी है, तुम्हारी नहीं। जिसको चाहूं, एक बेर भी न दूं ; जिसको चाहूं, सब-के-सब दे दूं। बेरी तुम्हारे हाथों बिकी हुई नहीं। तुम बोलनेवाले हो कौन ?"

हाड़ीराम--"अच्छा, अब हम कौन हो गये ?"

सुलक्खी--(उसी तरह ग़ुस्सेसे)--"मेहनत मैं करती हूं। रात-दिन मैं जागती हूं, फिर सारे-के-सारे बेर बांट देती हूं। आप् एक बेर भी नहीं खाती। इसपर भी इतना क्रोध ! आख़िर आदमीको कुछ सोचना भी तो चाहिए। जाओ, नहीं दिये, न सही। जो कुछ करना हो, कर लो।"

हाड़ीराम दांत पीसता हुआ चला गया। इधर सुलक्खी बेरीके पास जाकर उससे लिपट गई, और बोली--"बेटी ! यदि तुम्हारा बाप जीता होता, तो इसकी क्या हिम्मत थी, जो यूं मेरी बेइज्ज़ती कर जाता।"

इससे तीसरे दिन सुलक्खी एक बीमार बच्चेकी सेवा-शुश्रूषा कर रही थी कि एक लड़का दौड़ता हुआ आया, और हांफता हुआ बोला--"तुम्हारी बेरीको हाड़ीने काट दिया। कई लोगोंने मना भी किया, मगर वह कहता था, मुझे सुलक्खीने गाली दी है। सारा आंगन भर गया है।"

(७)

सुलक्खीको ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसीने गोली मार दी हो। वहांसे चली, तो उसे रास्ता न दिखाई देता था? उसके पांव-तलेसे ज़मीन निकलती जा रही थी। उस समय उसके शरीरमें ज़रा भी शक्ति न थी। पैर इस तरह लड़खड़ा रहे थे, जैसे अभी गिर पड़ेगी। मार्गके दोनों ओर लोग खड़े उसको देखते थे, और हाड़ीको गालियां देते थे। उस समय उन्हे सुलक्खीका विचार था, हाड़ीका भय न था। ये सुलक्खीके साथ सहानुभूति दिखाना चाहते थे, और उन्हें सिवा हाड़ीको गालियां देनेके और कोई ढंग न दिखाई देता था।

उधर सुलक्खीका आंगन स्त्री-पुरुषों से भरा था। और मध्यमें बेरी कटी पड़ी थी। लोग कहते थे—"कितना ज़ालिम है, ज़रासी बातपर बेरी काट दी। काटनेपर ही सबर किया होता, तो भी ख़ैर थी। अगले वर्ष फिर उग आती, परन्तु इसनें तो जड़ें भी उखाड़ दी। आदमी काहेको है, चंडाल है!"

सहसा सुलक्खी छोटासा घूंघट निकाले आई, और आंगनमें खड़ी हो गई। उसने बेरीकी डालोंको ज़मीनपर पड़ा देखा, तो उसके हृदयपर छुरियां चल गईं। उसको ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे यह वृक्षकी डालियां नहीं, उसकी सन्तानके हाथ-पांव हैं। उसने आगे बढ़कर एक-एक डालीको गले लगाया, और रो-रोकर विलाप किया। इस विलापको सुनकर सभी लोग रोने लगे। सुलक्खी कहती थी—"अरे! तूने मुझे बुला क्यों न लिया? बच्चा! पता नहीं! जब तुझपर ज़ालिमका कुल्हाड़ा चला होगा, तेरा दिल क्या कहता होगा। तड़पता होगा। सोचता होगा, मां काहेको है, डायन है। यह कसाई मेरे हाथ-पांव काट रहा है, वह बाहर घूम रही है। बच्चा! मुझे क्या मालूम था, तेरे सिरपर मौत खेल रही है। अभी भला-चंगा छोड़कर गई थी; अभी-अभी तू बाहें फैलाकर खड़ा था। तुझे देखकर जी प्रसन्न हो जाता था। इतनी जल्द तयारी कर ली। अब लोग तेरे बेरोंको तरसेंगे। ऐसे मीठे बेर और यहां नहीं?

"तेरे बापने मरते समय कहा था, जब तक जीती है, इसकी रक्षा करना, और इसके बेर लोगोंमें बांटना। आज ये दोनों बातें असम्भव हो गईं। अब मेरा रहना वृथा है। चल दोनों एक साथ चलें। वहां तीनों मिलकर रहेंगे।"

यह कहकर उसने बेरीकी डालियोंकी चिता-सी चुनी। नीचे-ऊपर सूखी लकड़ियां डालकर उसपर घी डाला, और आग लगा दी। आगकी ज्वालाएं हवामें उठने लगीं। लोग पीछे हट गये, मगर सुलक्खी उसी जगह जलती हुई बेरीके पास चुपचाप खड़ी उसकी ओर देख रही थी।

सहसा वह चितामें कूद पड़ी। लोगोंमें हलचल मच गई। वे "हें-हें" करते हुए आगे बढ़े; परन्तु आगकी ज्वालाओंने उनका रास्ता रोक लिया। सुलक्खी आगमें बैठी जल रही थी, किन्तु उसके मुखपर ज़रा परेशानी—ज़रा घबराहट न थी; बल्कि आत्मिक प्रकाश था। जैसे उसके लिए आग-आग न थी, ठंडा जल था। इतनेमें ज्वालाओंमें से आवाज़ आई—"मैं मरते समय वसीअत करती हूं कि मेरे कुलके लोग भविष्यमें दान न लें।"

पुरुषोंकी आंखोंसे आंसू जारी थे। स्त्रियां फूट-फूटकर रो रही थीं, परन्तु सुलक्खी मृत्युके गरजते हुए शोलोंमें चुपचाप बैठी थी। देखते-देखते मा-बेटे दोनों जलकर भस्म हो गये। कल दोनों ज़िन्दा थे, आज कोई भी न था।

थोड़ी देरके बाद सुलक्खीका भाई लछमन और गांवके जाट लाठियां लिये हाड़ीरामको ढूंढ़ते फिरते थे। वे कहते थे—"आज उसको ज़िन्दा न छोड़ेंगे। पहले मारेंगे, फिर बांधकर आगमें जला देंगे।"

परन्तु हाड़ीराम जंगलों और वनोंमें मुंह छिपाता फिरता था। इसके बाद उसे किसीने नहीं देखा। कब मरा? कहां मरा? कैसे मरा?—यह किसीको भी मालूम नहीं।

होली

(१)

"कल होली है।"

"होगी।"

"क्या तुम न मनाओगी?"

"नहीं।"

"नहीं ?"

"न।"

"क्यों ?"

"क्या बताऊं क्यों ?"

"आख़िर कुछ सुनूं भी तो।"

"सुनकर क्या करोगे ?"

"जो करते बनेगा।"

"तुमसे कुछ भी न बनेगा।"

"तौ भी।"

"तौ भी क्या कहूं ? क्या तुम नहीं जानते होली या कोई भी त्योहार वही मनाता है जो सुखी है। जिसके जीवन में किसी प्रकार का सुख ही नहीं, वह त्योहार भला किस बिरते पर मनावे ?"

"तो क्या तुमसे होली खेलने न आऊं ?"

"क्या करोगे आकर ?"

सकरुण दृष्टि से करुणा की ओर देखते हुए नरेश साइकिल उठाकर घर चल दिया। करुणा अपने घर के काम-काज में लग गई।

(२)

नरेश के जाने के आध घंटे बाद ही करुणा के पति जगत प्रसाद ने घर में प्रवेश किया। उनकी आंखें लाल थीं। मुंह से तेज़ शराब की बू आ रही थी। जलती हुई सिगरेट को एक ओर फेंकते हुए वे कुरसी खींच कर बैठ गये। भयभीत हिरनी की तरह पति की ओर देखते हुए करुणा ने पूछा—"दो दिन तक घर नहीं आए, क्या कुछ तबियत खराब थी ? यदि न आया करो तो ख़बर तो भिजवा दिया करो। मैं प्रतीक्षा में ही बैठी रहती हूं।"

उन्होंने करुणा की बातों पर कुछ भी ध्यान न दिया। जेब से रुपये निकाल कर मेज़ पर ढेर लगाते हुए बोले—"पंडितानी जी की तरह रोज़ ही सीख दिया करती हो कि जुआ न खेलो, शराब न पीयो, यह न करो, वह न करो। यदि मैं जुआ न खेलता तो आज मुझे इतने रुपये इकट्ठे कहां से मिल जाते ? देखो पूरे

पन्द्रह सौ हैं। तो इन्हें उठाकर रखो, पर मुझ से बिना पूछे इसमें से एक पाई भी न ख़र्च करना समझीं ?

करुणा जुए में जीते हुए रुपयों को मिट्टी समझती थी। ग़रीबी से दिन काटना उसे स्वीकार था। परन्तु चरित्र को भ्रष्ट करके धनवान बनना उसे प्रिय न था। वह जगत प्रसाद से बहुत डरती थी इसलिए अपने स्वतंत्र विचार वह कभी भी प्रकट न कर सकती थी। उसे इसका अनुभव कई बार हो चुका था। अपने स्वतंत्र विचार प्रकट करने के लिए उसे कितना अपमान, कितनी लांछना और कितना तिरस्कार सहना पड़ा था। यही कारण था कि आज भी वह अपने विचारों को अन्दर ही अन्दर दबा कर दबी हुई ज़बान से बोली—"रुपया उठाकर तुम्हीं न रख दो ? मेरे हाथ तो आटे में भिड़े हैं।" करुणा की इस इन्कारी से जगत प्रसाद क्रोध से तिलमिला उठे और कड़ी आवाज़ से पूछा—

"क्या कहा ?"

करुणा कुछ न बोली नीची नज़र किए हुए आटा सानती रही। इस चुप्पी से जगत प्रसाद का पारा एकसौ दस डिग्री पर पहुंच गया। क्रोध के आवेश में रुपये उठा कर उन्होंने फिर जेब में रख लिये—"यह तो मैं जानता ही था कि तुम यही करोगी। मैं तो समझा था इन दो-तीन दिनों में तुम्हारा दिमाग़ ठिकाने आगया होगा। ऊट-पटांग बातें भूल गई होगी और कुछ अकल आगई होगी। परन्तु सोचना व्यर्थ था। तुम्हें अपनी विद्वत्ता का घमंड है तो मुझे भी कुछ है। लो! जाता हूं अब रहना सुख से"—कहते कहते जगत प्रसाद कमरे से बाहर निकलने लगे।

पीछे से दौड़कर करुणा ने उनके कोट का सिरा पकड़ लिया और विनीत स्वर में बोली—"रोटी तो खालो ! मैं रुपये रखे लेती हूं। क्यों नाराज़ होते हो ?" एक ज़ोर के झटके के साथ कोट को छुड़ाकर जगत प्रसाद चल दिये। झटका लगने से करुणा पत्थर पर गिर पड़ी और सिर फट गया। खून की धारा बह चली, और सारी जाकेट लाल हो गई।

(३)

संध्या का समय था। पास ही बाबू भगवती प्रसाद जी के सामने वाली चौक से सुरीली आवाज़ आ रही थी।

"होली कैसे मनाऊं ?"

"सैंया बिदेस, मैं द्वारे ठाढ़ी, कर मल मल पछताऊं।"

होली के दीवाने भंग के नशे में चूर थे। गानेवाली नर्तकी पर रुपयों की बौछार हो रही थी। जगत प्रसाद को अपनी दुखिया पत्नी का ख़याल भी न था। रुपया बरसाने वालों में उन्हीं का सब से पहिला नम्बर था। इधर करुणा भूखी-प्यासी छटपटाती हुई चारपाई पर करवटें बदल रही थी।

* * * *

"भाभी, दरवाज़ा खोलो" किसी ने बाहर से आवाज़ दी। करुणा ने कष्ट के साथ उठकर दरवाज़ा खोल दिया। देखा तो सामने रंग की पिचकारी लिए हुए नरेश खड़ा था। हाथ से पिचकारी छूट कर गिर पड़ी। उसने साश्चर्य पूछा—

"भाभी यह क्या ?"

करुणा की आंखें छल छला आईं, उसने रुंधे हुए कंठ से कहा—

"यही तो मेरी होली है, भैय्या।"

मानुषी

पार्वती ने कहा—स्वामिन्, बहुत दिन हो गये, नर-लोक नहीं देखा। यदि अनुचित न हो, तो चलने का कष्ट उठा कर दासी का मनोरथ पूर्ण कीजिए।

भगवान शंकर ने कहा—देवि, ऐसी इच्छा क्यों? क्या कैलाशधाम से जी ऊब उठा ?

नहीं नाथ, कैलाश के आनन्द-उत्सवों से जो नीर उत्थित होता है, वह तो नित्य नया है! यहां ऊब उठने का प्रश्न ही नहीं।

ऊबना नहीं, तो फिर यह क्या है प्रिये !

एक उत्कण्ठा। ऊबना विरक्ति-जन्य है, और उत्कण्ठा आनन्दजन्य। देखना तो चाहिए, आपका जटा-जूट छोड़ जाह्नवी जीजी जिस लोक में गई हैं, वह कैसा है ?

कैलास के हिम-धवल शृङ्गों को और भी समुज्ज्वल करते हुए शंकर अट्टहास कर उठे। बोले—जाह्णवी जीजी पर तुम्हारा अनुराग बहुत है! यदि उनकी तरह तुम भी वहां रह गईं तो?

स्वामिन्, यह कैसा परिहास! शरीर के आलम्बन को छोड़ कर छाया कहीं रह सकती है?

तथास्तु। तुम्हारी इच्छा है, तो चलो।

महादेव-पार्वती नर-लोक के नाना दृश्य देखते चले जा रहे थे। बड़े-बड़े राजप्रासाद निकल गये, जहां चञ्चला लक्ष्मी अचला हो कर आलोक किये बैठी थी। बड़े बड़े उद्यान पीछे छूट गये, जो अपनी महत्ता में, समय-असमय के, अपने-पराये, छोटे-बड़े सब वृक्षों को एक-से वात्सल्य-रस से सींच कर अहर्निशि पुष्पित-फलित किये हुए थे। सहसा एक झोपड़ी के भीतर से "ओ जगदम्बा मैया!" सुन कर पार्वती ठिठक कर खड़ी हो गईं। बोलीं—कोई दुखिया जान पड़ती है नाथ! देखिए न, हमें क्यों याद कर रही है।

देवि, यह नर-लोक है। यदि इस तरह देखा जायगा, तो यह देखना कभी पूरा न होगा।

नहीं, इसे तो देखना ही चाहिए। शीत-काल की सुनसान रात, जड़-चेतन सब निद्रा-मग्न हैं। मुझे बड़ी करुणा आ रही है। अनुग्रह करके इसके सब अभाव दूर कर दीजिए देव!

देख लिया। इसे कोई अभाव नहीं है।

कोई अभाव नहीं है? मुझे तो इस उटज में जो कुछ दिखलाई पड़ता है, वह अभाव ही है, और कुछ नहीं।

तुम मुझ-जैसा थोड़े देख सकती हो। मैं 'त्रिनेत्र' जो हूं!

नहीं नाथ, भक्त सामने कष्ट में है। यह समय परिहास का नहीं है।

देवि, मैं परिहास नहीं कर रहा हूं। मुझे यहां करुणा का कोई कारण नहीं दिखाई देता। इस उटज को देख कर यथार्थ ही मैं आनन्द से पुलकित हो उठा हूं।

नाथ, इस झोपड़ी में ऐसा कौन-सा आकर्षण है, सो समझ में नहीं आया। देखिए, काल के थोड़े-से आघात से ही, आंखों में अंधेरा भर कर, यह किसी वृद्धा की तरह पृथ्वी पर बैठ जाने की सोच रही है। ऊपर की मिट्टी ने खिसक कर

स्थान-स्थान पर भित्तियां विषम कर दी हैं, मानो उनमें झुर्रियां पड़ गई हों : ऊपर छप्पर में जगह-जगह झरोखे बन गये हैं। जाले बुन कर भीतर मकड़ियों ने उन पर परदे डालने चाहे हैं। ऐसी है यह झोपड़ी। और, इसी को देख कर आप आनन्द से पुलकित हो उठे हैं!

नहीं देवि, इस ओर तो मेरी दृष्टि ही नहीं पड़ी।

धन्य भगवन्, आप यथार्थ ही भोलानाथ हैं। आपने तो इस लोक के नरेन्द्रों को भी मात कर दिया, जिनके सामने ही प्रजा 'त्राहि-त्राहि' करती रहती है, परन्तु उनके कानों का मधु-संगीत किंचिन्मात्र भी कुंठित नहीं होता। आज मालूम हो गया, इस लोक में इतना दुःख-द्वन्द्व क्यों है। जब आपने बाहर ही नहीं देखा, तो भीतर क्या देखा होगा?

प्रस्तर-प्रसूते, मैं कहता तो हूं, भीतर बहुत कुछ है। तुम स्वयं देख लो न।

मैं प्रस्तर-प्रसूता हूं, बुद्धि मेरी है ही कितनी? बुद्धि होती, तो देख न लेती। परन्तु नाथ, इतना स्मरण रखिए, मैं प्रस्तर की पुत्री हूं, तो आप भी प्रस्तर से असम्बन्धित नहीं रह सकते। आप इस प्रकार—

भवानि, तुम्हारा यह आवेश भी बहुत सुन्दर जान पड़ता है। इसमें उत्ताप है, परन्तु निदाघ की नहीं हेमंत की अग्निशिखा का।

इधर-उधर की बातें करके आप बात टालना चाहते हैं, मैं यह न होने दूंगी। अच्छा, भीतर ही देखिए, भीतर क्या है? अविच्छिन्न अंधकार। यदि आपके भाल पर चन्द्र न होता, तो वास्तव में कुछ देख लेना सबका काम न होता। परन्तु इससे क्या? देखने का साधन है, देखने के लिए भी तो कुछ चाहिए। देखिए, यही है न—दो-चार टूटे-फूटे बर्तन ; रिक्त रसोई-घर ; वह खाट, जिसकी मूंज ढीली हो कर, टूट कर, स्वयं भूमि-शयन करना चाहती है। और कुछ हो, तो आप बताइए।

और वह मानुषी?

उसी खाट पर मलिन कन्था में बंधी हुई वह गठरी ही न? उसके ललाट का सिन्दूर-सुधाकर सदा के लिए अस्त हो चुका है। मन की चर्चा ही क्या जब शरीर भी ज्वर-ताप से दग्धीभूत हो रहा है। पास में कोई पानी देने तक के लिए नहीं है। ज्वर की अचेतावस्था में मुझे पुकार रही है। मैं सामने ही

अलक्षित हूं। आप कहते हैं, उसे कोई अभाव नहीं है। यह कैसी समस्या है देव !

यथार्थ ही कहता हूं देवि, इसके पास जो कुछ है, उसकी तुलना में कोई अभाव टिक नहीं सकता। अभी कुछ विलम्ब नहीं हुआ, कितने ही वैभवशाली नराधिप देख चुका हूं, कितने ही योगियों को पीछे छोड़ आया हूं, कितने ही मनीषियों और कलाकारों का परिचय पा आया हूं। परन्तु जो कुछ इसके पास देख रहा हूं, वह इसीके पास है।

यदि यह ऐसी गरीयसी है, तो यह इस स्थान पर सुशोभित नहीं होती नाथ ! नष्ट करने के लिए नहीं, उदर भरने के लिए तो इसे भोजन दीजिए। प्रासाद नहीं, ऐसा घर तो दीजिए, जिसमें सिर ऊंचा करके चलने में उसके फूटने का डर न हो।

शुभे, इसका घट ऊपर तक भरा हुआ है। उसमें और कुछ भरने के लिए स्थान नहीं है। इसमें और कुछ ढालने के लिए इसका ओत-प्रोत अमृत निकाल लेना पड़ेगा। यह बात इसके लिए वर नहीं, अभिशाप से अधिक होगी। अभी तुम इस रमणी को वैभव देने के लिए कह रही हो, आगे चल कर अन्धकार पूरित खनि में मणि देख कर कहोगी, इनके उत्पन्न होने के लिए स्थान-स्थान पर सौध खड़े कर दो। यह कैसे हो सकता है ?

नहीं नाथ, मैं प्रतिज्ञा करती हूं, मणियों के लिए सौध खड़े कर देने की बात नहीं कहूंगी। विभूति का थोड़ा-सा कण इस महीयसी को ही देने के लिए कह रही हूं। इसके विषय में आपने जो कुछ कहा है, उसे सुन कर मुझे रोमहर्ष हो उठा है। इसके लिए किंचित् अनुग्रह करना ही पड़ेगा।

अच्छा, ऐसा करो देवि, इसे तुम जो कुछ देना चाहती हो, स्वयं दे दो। यदि तुम इसे कुछ भी अधिक दे सकोगी, तो मुझे कम संतोष न होगा।

ऐसा करने में कुछ अपराध तो न होगा ? भगवन् ! मेरे मन में करुणा का उद्रेक हो रहा है, नहीं तो—

नहीं भगवति, कोई अपराध न होगा। इस महीयसी को और पास से देखने का अवसर पा कर तुम भी अपनी यह यात्रा सफल समझोगी।

स्वामिन्, आपने मेरी उत्कण्ठा बहुत बढ़ा दी है। यह अवसर हाथ से नहीं छोड़ा चाहती। हां; आपको कुछ रुकने का कष्ट उठाना पड़ेगा।

जब तक तुम्हारी इच्छा होगी, मैं सहर्ष रुकूंगा। तुम अपना काम करो देवि! मैं पास ही इस आक-वृक्ष के पुष्प में बैठ कर तुम्हारी प्रतीक्षा करूंगा।

*　　*　　*　　*

मनोहरलाल की अवस्था १७-१८ से अधिक न होगी, जिस समय उसके पिता कामतानाथ की मृत्यु हुई। मिट्टी के कच्चे घर में जितना पक्का प्रबन्ध किया जा सकता था, वह कर गये थे। आठ-दस बीघे का खेत तो परम्परागत था ही, दो-चार सौ नकद भी छोड़ गये थे। पुत्र को आवश्यकता से अधिक शिक्षित कर गये थे। अर्थात्, वह डाकखाने के मनीआर्डर-फार्म ही नहीं भर लेता था, वरन् सामयिक समाचार-पत्रादि पढ़ कर उनका मतलब भी हृदयंगम कर लेता था। यह सब तो था ही, पुत्र का विवाह करके वह घर में ऐसी बहू ले आये थे, जिसे वह साक्षात् लक्ष्मी समझते थे। यदि पौत्र का मुंह और देख जाते, तो कदाचित् उनकी सब अभिलाषाएं पूरी हो जातीं।

परन्तु न तो सदा मनुष्य की सब अभिलाषाएं पूरी होती हैं, और न मनुष्य का सोचा हुआ ही सब समय ठीक निकलता है। पिता की मृत्यु के बाद मनोहरलाल ने जिस पथ का अवलम्बन किया, वह मनोहर तो था, परन्तु वह मनोहरता बनाये हुए नागरिक पथ की नहीं, वन्य पथ की थी, जिसमें आस-पास की पुनीत नैसर्गिक माधुरी के साथ-साथ कंकड़, कंटक, खड्ड और हिंस्र पशु भी कम नहीं होते। ऐसे पथ पर चलने के लिए जिस साहस की आवश्यकता होती है, उसका अभाव उसमें न था। यदि उस साहस के साथ कुछ चातुर्य उसमें और होता, तो कदाचित् कोई शोचनीय प्रसङ्ग उपस्थित न होता।

एक दिन मूलू अहीर ने आ कर मनोहर को अपना दुःख सुनाया। उसके ऊपर रामगोपाल जमींदार के कई सौ रुपये निकलते आ रहे थे। निरन्तर कुछ-न-कुछ दे कर भी वह अपना खाता डयोढ़ा न करा पाया था। ऋण के इस अंधकूप से उबारने के लिए रामगोपाल ने उसे रात भर रस्सी के सहारे कुएं में लटका रक्खा था। अन्त में उसकी जमींदारी की कुछ पाइयां और कौड़ियां ही लिखा कर उसके कई सौ रुपयों की

रसीद दे कर उसे सदा के लिए ऋण-मुक्त कर दिया था। मनोहरलाल सब हाल सुन कर ऐसा उत्तेजित हो उठा, मानो यह व्यवहार उसीके साथ किया गया हो। उसने सब संवाद लिख कर झट-से समाचार-पत्र में छपने के लिए भेज दिया।

जब समाचार-पत्र में उक्त समाचार छपा, तब गांववालों को निश्चित रूप से मालूम हो गया कि संसार में अब कलिकाल अपनी सोलहों कलाओं से अवतीर्ण हो गया है। अभी से अपने घर-गांव की बुराई ऐसी कड़ी भाषा में बाहर वालों को सुनाई जाने लगी है, तो आगे चल कर न-जाने क्या होगा! ऐसा व्यवहार तो सदा सनातन से होता आया है, परन्तु कभी तो नहीं सुना कि ऐसी बातें इस तरह छपा दी गई हों। यदि किसी धुनिए-जुलाहे ने मूलू के साथ वह व्यवहार किया होता, तो उस पर विचार भी किया जा सकता था। जमींदार के विरुद्ध कुछ कहना ऐसा पाप है, जिसका प्रायश्चित्त नहीं है। जिस तरह बैकुण्ठविहारी भगवान की प्रस्तर-मूर्ति बनाने की व्यवस्था करके उनकी अर्चा घर-घर सुलभ कर दी गई है, उसी तरह ईश्वर के अंशस्वरूप नराधिप की सेवा करने के लिए ही जगह-जगह जमींदार प्रतिष्ठित किये गये हैं! अतएव मनोहरलाल के इस नास्तिकाचार के कारण सारा गांव उसका शत्रु बन गया।

इस व्यापार के आदि-काण्ड में जो मूलू अहीर सबसे आगे था, युद्ध-काण्ड में भी वह किसीके पीछे न रहा। मनोहरलाल ने रात-भर कुएं में लटके रहने की जो कुत्सा उसके सिर पर लाद दी थी, यथाशक्ति सिर हिला कर उसने उसे दूर कर देना चाहा! खुले में सबके सामने उसने कह दिया—मनोहर ने न-जाने कब का वैर निकालने के लिए ये सब बातें गढ़ी हैं। दाल में नमक के बराबर इनमें सत्य इतना ही है कि मैं ने अपनी जमींदारी का हिस्सा रामगोपाल के नाम लिख दिया है। ऐसा न करता, तो क्या करता, उनका रुपया मार खाता? धर्म-कर्म और लोक-परलोक भी तो कुछ हैं।

फलतः एक-एक करके मनोहरलाल के सब हेलीमेली, अड़ोसी-पड़ोसी उससे दूर हट गये। ऐसे भयंकर आदमी के साथ किसी की पट कैसे सकती थी। सब बाल-बच्चे वाले गरीब आदमी थे। मनोहरलाल का विश्वास ही क्या, न-जाने कब, किसके विषय में, वह क्या छपा दे!

इस महाभारत का शान्ति-पर्व यहीं पर नहीं हो गया। एक दिन मूलू अहीर ने तहसीलदार के यहां दाँवा किया कि मनोहरलाल ने उसे बुरी-बुरी गालियां दी हैं, और बुरी तरह मारा है। सब बातें प्रमाणित करने वाले स्वार्थ-त्यागी साक्षियों की भी कमी न थी। उनमें से कुछ सदाशय ऐसे भी थे, जो उस दिन गांव में भी नहीं थे। नहीं थे, तो क्या हुआ ; घर में आग लगी हो, तो नाबदान के पानी से भी उसे बुझाने में दोष नहीं। विपत्ति-काल का धर्म धर्म की छाती रौंद कर भी चलता है ! गांव वालों ने यह निगूढ़ तत्त्व अच्छी तरह हृदयंगम कर लिया था। अतएव न्याय-देवता की क्षुधा मिटाने के लिए जितने असत्य की आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति करने में उन्हें कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। इस तरह गांव भर के, अर्थात् जमींदार के, शत्रु मनोहरलाल को एक महीने की सज़ा हो गई।

कारागार से लौट कर मनोहरलाल ने न तो सत्याग्रहियों का-सा स्वागत पाया, और न समाचार-पत्रों का स्तव गान ही। इस बीच में गांव के ढोरों ने उसकी खड़ी हुई खेती चर कर उसे काटने और घर लाने के आगामी श्रम-बाहुल्य से अवश्य मुक्त कर रक्खा था।

श्यामा ने रोते-रोते स्वामी के पैरों पर गिर कर कहा—चलो नाथ, इस पापी गांव को छोड़ कर और कहीं चलो। इन गांव वालों के साथ रहने की अपेक्षा वन के हिंसक पशुओं के साथ रहना अधिक अच्छा है।

मनोहरलाल आंखों से आग बरसा कर गरज उठा—क्या तुम भी हमारे शत्रुओं में मिल गईं? तुम्हें जहां जाना हो, चली जाओ। किसी के डर से मैं बाप-दादों का घर नहीं छोड़ सकता।

हृदय को समझाने के लिए हृदय की बात ही यथेष्ट होती है। वहां तर्क का प्रवेश निषिद्ध है। श्यामा इतने में ही समझ गई, यह घर छोड़ा नहीं जा सकता। घर जहां होता है, वहीं रहता है ; चारों ओर अग्नि का ताण्डव-नृत्य होने पर भी उठा कर दूसरी जगह नहीं ले जाया जा सकता।

घर नहीं छोड़ा गया, परन्तु घर की सामग्री धीरे धीरे उसका परित्याग करके रीते पेट भरने लगी। इसका परिणाम बहुत अनुकूल न हुआ। जिस खाद्य में घर के कितने ही गहने-कपड़े और लोटा-वर्त्तनों का सम्मिश्रण था, वह मिलावटी अन्न की तरह मनोहरलाल के शरीर का शोषण करने लगा।

खाट पर गिर कर भी मनोहरलाल ने आराम की ही सांस ली। जिन गांववालों से वह दूर-दूर रहना चाहता था, उन्हींके बीच रह कर भी उनकी छाया से बचने का उसे सबसे बड़ा उपाय मिल गया। यदि कोई पड़ोसी कभी उसके यहां उसकी खबर पूछने आ जाता, तो वह ऐसा व्यवहार करता, मानो रसोई-घर में घूरे का कुत्ता घुस आया हो। श्यामा वैद्य को बुलाने का साहस भी नहीं कर सकी। फिर भी उसने सब हाल कहलवा कर उसके यहां से दवा मंगाई। उसे देख कर ही मनोहरलाल आग हो उठा। बोला—सब मेरे साथ शत्रुता रखते हैं, तुम तो मुझे आराम से पड़ा रहने दो। क्या तुमसे मेरा खाट पर पड़ा रहना भी नहीं देखा जाता? फेंको यह दवा, इसी दम फेंको। यहीं नहीं, घर के बाहर। इसकी गन्ध मेरा दम घोट देगी। जिस औषधि का देखना-भर इतना विषाक्त था, उसका सेवन कोई लाभ नहीं पहुंचा सकता था। श्यामा ने तुरन्त बाहर जा कर औषधि पृथ्वी-माता के अर्पण कर दी।

श्यामा ने दवा का अभाव अपनी सेवा से पूरा करना चाहा। स्वामी में खाट पर बैठने की शक्ति नहीं थी। निरन्तर उनके पैरों के पास बैठ कर उसने उन्हें बैठने का सुख देना चाहा। उन्हें रात को नींद नहीं आती थी। उसने स्वेच्छा से रात-रात भर जाग कर उन्हें अपनी नींद देनी चाही। परन्तु दे न सकी अपने दीर्घ जीवन का एक पल भी। जिस दुर्निवार वेग से व्याघ्र अपने आखेट पर झपटता है, उसी भीषणता के साथ मनोहरलाल का अन्त निकट आने लगा।

उस दिन, रात के प्रारम्भिक अंधेरे में, हाथ में लोटा लिये, श्यामा दूध लेने अहीर के यहां जा रही थी। अकेले पथ पर अचानक जमींदार रामगोपाल मिल गया। घूंघट खींच कर, उसे जगह देने के लिए वह एक ओर हट गई। उसने धृष्टता की हंसी हंस कर कहा—"सुन्दरी, तुम इतना कष्ट क्यों करती हो? ज़रा हंस कर मुझे आज्ञा दो। सीधी तुम्हारे यहां दूध की धार पहुंच जायगी।" केवल दो आंखों से ही नहीं, अपने सम्पूर्ण मुख से त्रिनेत्र के रोष की भीषण ज्वाला बरसाती हुई श्यामा आगे बढ़ गई। जले हुए कंडे की घनीभूत राख की तरह रामगोपाल जहां-का तहां जड़ीभूत हो गया। बड़ी देर के बाद उसे चेत आया कि वह कहां है, और कितनी बड़ी घटना थोड़े समय के भीतर घट चुकी है।

घर पहुंच कर श्यामा स्वामी को दूध पिलाना भूल गई। उनके पैर पकड़ कर आज वह बड़े ज़ोर से रो पड़ी। जिस गीली लकड़ी के एक सिरे पर आग होती है, और दूसरे सिरे से पानी रिसता है, उसी-जैसी उसकी अवस्था थी। स्वामी के सामने इस प्रकार वह कभी नहीं रोई थी। कारण न उसने पूछा, न श्यामा ने ही कहा। उसकी ओर वह इस प्रकार देखता रहा मानो कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं है। इस घटना का हेतु मानो उसके स्मृति-भांडार में ही कहीं छिपा हो, और वह उसे वहां से बाहर निकालने का विफल प्रयत्न कर रहा हो।

मृत्यु के कुछ पहले मनोहरलाल की चेतना-शक्ति घबराये हुए उस स्वजन की तरह लौट आई, जो अपने आत्मीय के अन्तिम समय का समाचार तार से पा कर दूर से आया हो। श्यामा को अपने और पास खींच कर उसने धीमे स्वर में कहा—"श्यामा, मैं ने तुम्हें बहुत दुःख दिया। शायद संसार में किसीको सुख दिया ही नहीं जा सकता। परन्तु यदि मैं तुम्हें अपने जीवन में थोड़ा भी सुख दे सका होता, तो आज अपने आनन्द में मुझे कोई त्रुटि न दिखाई देती। मालूम नहीं, तुम समझ सकोगी या नहीं, फिर भी आज मुझे जो आनन्द है, उसके सामने कोई चिन्ता, कोई दुःख, कोई अभाव नहीं ठहर सकता। आज मेरे ऊपर किसी का कोई ऋण, कोई अनुग्रह नहीं है। संसार से जो कुछ मुझे मिला था, मैं ने उसका पाई-पाई हिसाब चुका दिया है। उसके समस्त घातक शस्त्रों का, समस्त दुःख और लांछनाओं का आघात, कायर सैनिक की तरह ,मैंने पीठ पर नहीं झेला। पीछे के आघात के सामने भी मेरी छाती ही खुली रही है। आज अब मेरे जाने का समय आ गया। मालूम नहीं, तुम संसार को किस तरह सहन करोगी!"

श्यामा की आंखों से झर-झर आंसू झर रहे थे। उसने उन्हें आंचल से पोंछ डाला। केवल आंखों से ही नहीं, हृदय के अन्तस्तल से भी। शोक की म्लान कालिमा भी कदाचित् उन्हीं के साथ पोंछ दी गई। उसके मुंह पर एकाएक सौन्दर्य का वह तेज फैल गया, जो सहमरण के लिए प्रस्तुत किसी देवी को सब ओर से छा लेता है। उसने सिर उठा कर सहज, शान्त स्वर में कहा—"चिन्ता न करो नाथ! मैं भी संसार को उसी प्रकार सहन करूँगी जिस प्रकार तुमने सहन किया है। मेरे लिए चिन्ता करके तुम आज अपने अन्तिम आनन्द को पीड़ा न पहुँचाओ।"

मनोहरलाल ने पत्नी की ओर देखा। अब की बार उसकी आंखों में भी आंसू दिखाई दिये। कुछ देर के लिए अपनी आंखें बंद करके उसने अपने आनन्द के भार को सहन करना चाहा।

उसी रात मनोहरलाल ने सदा के लिए आंखें बन्द करलीं।

जो बैर है, विरोध है, कुत्सा है—उसका जीवन इतना भी नहीं; जितना मनुष्य की क्षणभंगुरता का। अमर वही है, जो प्रेम है, सत्य है, सुन्दर है। तभी मृत्यु की छाया में इनका जीवन पहले से भी अधिक उज्ज्वल हो उठता है। आज मनोहरलाल के लिए बहुतों को हार्दिक दुःख हुआ। रामगोपाल भी उसके शव-संस्कार में जाने से न रुक सका। उसके जीवित काल में लोगों ने उसके ऊपर पत्थर ही बरसाये थे। उसने झाड़-पोंछ कर वे पत्थर अपने ही पास रख छोड़े थे। प्रतिघात के लिए आक्रमणकारियों के ही ऊपर न फेंक कर उसने उन सबको निःशस्त्र और निस्सहाय कर दिया था। उन लोगों को अपनी उस असहायावस्था का जैसा पता आज लगा, वैसा कभी नहीं लगा था। वह ग्लानि मिटाने के लिए लोगों ने उसकी चिता पर आंसू और फूल बरसाने में कसर न रक्खी।

इस घटना के अनन्तर श्यामा उस रूपान्तर में पलट गई, जो मूल से भी बहुत बढ़-चढ़ कर होता है। लोगों को उसे देख कर आश्चर्य हुआ। घनीभूत धुएं से भरे हुए कमरे में दीप-शिखा की भांति वह शोक उसका अणु-मात्र भी अनिष्ट न कर सका। मानों कुछ ऐसा हुआ ही नहीं कि उस पर दया की जाय।

तेरहीं के दिन उसके भैया ने, निमन्त्रित थोड़े से ब्राह्मणों को भोजन करा चुकने के उपरान्त, कहा—बहन, अब यहां तेरे रहने की ज़रूरत नहीं। चल, वह घर भी तेरा ही है। अपनी छाया में वहां अपने भतीजों को आदमी बनने के योग्य कर दे।

आज वह अपने को संभाल न सकी। अजस्र आंसू बरसा कर उसने कहा—इसके लिए क्षमा करो भैया! यह घर छोड़ा जा सकता होता, तो आज यह दिन आता ही नहीं। जिस तरह छुटपन में मेरे अनेक उपद्रव हंस कर सह लेते थे, उसी तरह आज मेरी यह बात भी सहो।

घर छोड़ने के लिए उसे किसी तरह सम्मत न किया जा सका। भैया के हृदय पर चोट लगी। उन्होंने समझा, विवाह के बाद बहन पर भैया का किसी

तरह का भी ज़ोर नहीं रहता। अच्छी बात, इसी घर में रहे। जहां उसे सुख हो, वहीं अच्छा।

दस-पांच दिन उसके यहां ओर रह कर, उस के रहने का उचित प्रबन्ध करके, उसके भैया आंखों में आंसू भरे हुए क्षुण्ण मन से अपने घर चले गये।

श्यामा दूसरों का आटा पीस कर और अपना खेत बंटवारे पर दे कर अपने दिन व्यतीत करने लगी। उसे जो कुछ मिल जाता, वह भी उसके लिए अधिक हो जाता। निज का सब काम करके उसके हाथ और भी कुछ करने के लिए तैयार रहते। उस समय वह पड़ोसियों के यहां जा कर उनके काम में हाथ बंटाती। कठोर-से-कठोर मिल-मैनेजर मज़दूरों से जितना काम लेता है, अपने शरीर से वह उससे भी अधिक परिश्रम लेती। किसी पड़ोसी के प्रतिदान की आवश्यकता उसे न होती। देवी की प्रतिमा की तरह वह अपने भक्त का अर्पित किया हुआ भोग अपने प्रसाद के साथ उसीके लिए लौटा देती।

उसे स्वामी की फतूही की जेब में सोने की एक अंगूठी मिली थी। बहुत दिन पहले एक विपन्न परिवार ने कुछ ज़ेवर सोने के भाव से भी सस्ते दिये थे। यह अंगूठी उन्हीं में से थी। और सब ज़ेवर गला कर मनोहरलाल ने उनका सोना बेच दिया था। परन्तु यह अंगूठी या तो बिकी न थी, या फिर बेचने के लिए जेब में ही रख छोड़ी गई थी। श्यामा ने भी उसे न बेचा। वह धन का कम-से-कम उपयोग करना चाहती थी। स्वामी की अस्थियां त्रिवेणी में सिराते समय उसने वह वहीं दान में दे दी थी।

इस तरह बहुत दिनों तक करते-करते इक्के की उस घोड़ी की तरह उसका शरीर टूट गया, जिसे परिश्रम तो दूना करना पड़ता है, परन्तु खाने के लिए आधा भी नहीं दिया जाता। एक दिन वह खाट पर गिर रही।

उस रात ज्वर के कारण वह अचेतावस्था में थी। बीच-बीच में वह कई बार "ओ भोला बाबा, ओ जगदम्बा मैया!" कह कर चिल्लाई थी। रोग ऐसा जान पड़ता था कि आज उसकी तबीयत और खराब हो जायगी। परन्तु सवेरे उठ कर उसे जान पड़ा कि वह स्वस्थ है। अपनी इस अवस्था पर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। रात की सुषुप्ति की दशा में उसे एक विचित्र आलोक दिखाई दिया था। उसका स्मरण उसके शरीर पर बार-बार अमृत-सा छिड़कने लगा।

श्यामा सूप से नाज फटक कर आटा पीसने की तैयारी में थी कि पड़ोसी तुलसी पण्डित की स्त्री एक वृद्धा को लेकर उसके यहां आई। श्यामा ने उसके पैर छू कर उसे बिठाया। पंडिताइन ने कहा—"यह हमारी गिरो मौसी हैं। तुमसे मिलना चाहती थीं। आज अब तुम्हारी तबीयत कैसी है?"

मौसी के पैर फिर छू कर श्यामा ने कहा—"धन्य भाग! आज तो तबीयत ठीक मालूम देती है।"

शब्द को छन्द के सांचे में ढालने के लिए कवि ही स्वेच्छाचारी नहीं होते, जन-साधारण भी उच्चारण की सुविधा के लिए यह छूट लेते हैं। मौसी का नाम तो है गिरिजा, परन्तु कहलाती हैं गिरो मौसी।

दो-चार बातों में ही गिरो मौसी ने श्यामा को इस प्रकार मुग्ध कर लिया, मानो उनके साथ उसका कई जन्म का सम्बन्ध हो। उनके सरल वात्सल्य ने उसकी वर्षों की क्षुधा शान्त-सी कर दी। पंडिताईन तो घर के काम से चली गईं, परन्तु मौसी की उठने की इच्छा न हुई। न तो मौसी को श्यामा से तृप्ति हो रही थी, और न श्यामा को मौसी से।

सन्ध्या-समय मौसी ने श्यामा से कहा—बेटी, तेरी तबीयत ठीक नहीं है। मैं आज रात को यहीं सोऊंगी। मेरे लिए जैसा तुलसी का घर, वैसा ही तेरा। ऐसे में तुझे अकेली न छड़ूंगी।

बड़ी विचित्र बात है, श्यामा मौसी को रोक न सकी। इस प्रकार किसी की वाध्यता स्वीकार करना उसकी प्रकृति में न था।

उस रात मौसी उसीके यहां सोई।

जब डेढ़ पहर रात बीत गई, और चारों ओर सन्नाटा छा गया, तब मौसी ने, इधर-उधर चारों ओर देख कर धीमे में कहा—बेटी, मुझे तुझसे एक बात कहनी है। आज दिन-भर से मैं उसीके कहने का अवकाश ढूंढ़ रही थी।

"कहतीं क्यों नहीं मौसी? मैं सुनती हूं।"

"अब तेरे सब दुःख-कष्ट दूर हो जायेंगे।"

श्यामा ने शंकित हो कर कहा—इस तरह मैं नहीं समझ सकती। साफ-साफ कहो मौसी!

"तुम्हारा जो खेत है, उसकी मेंड़ पर बहुत पुराने समय का एक पत्थर गड़ा हुआ है।"

"हां, ठीक कहती हो मौसी, गड़ा तो है।"

"वह पत्थर मामूली नहीं है। बहुत पुराना है, चन्देलों के राज्य का।"

"लोग कहते तो ऐसा ही हैं।"

"झूठ थोड़े कहते हैं। ऐसी ही बात है।"

"होगी मौसी, इससे हमें क्या?"

"हमें कैसे कुछ नहीं। वह बड़े काम की चीज़ है। एक बहुत बड़े महात्मा ने बताया है।"

"क्या बताया है?"

"अपना सिर ऊंचा करके वह अपार धन की चौकसी किये खड़ा है।"

"अच्छा?"

"उस पत्थर की नोंक एक ओर नीची है। उसीकी सीध में पचास हाथ की दूरी पर जाकर फिर उतना ही उस ओर मुड़ जाना चाहिए, जिस ओर पत्थर के सिरे पर एक नोंक उठी हुई है। मनुष्य को वैभवशाली करके ऊंचा उठाने के लिए उसी स्थान पर एक हंडी में ऊपर तक लबालब सोने की मुहरें भरी हुई हैं।"

श्यामा का चेहरा हर्ष से उज्ज्वल हो उठा। बोली—तो चलो मौसी, उसे निकाल दें।

परन्तु इस बात से मौसी को कुछ अच्छा न मालूम हुआ। शायद उन्होंने सोचा—यह स्त्री कैसी है! मैं ने इतनी बड़ी बात बताई, परन्तु इसने कृतज्ञता का एक शब्द भी नहीं कहा। बोली—यह काम इस तरह उतावली में थोड़े किया जा सकता है। सब लोगों को मालूम हो जायगा।

ठीक तो है! श्यामा को अपनी बुद्धि-हीनता पर लज्जा मालूम हुई। बोली—तो बताओ मौसी, क्या करूं?"

पहले उस जगह एक छोटी-सी मड़इया बना लेनी चाहिए। शायद लक्ष्मी देवी को अपना प्रकाश स्वयं देखने का बहुत शौक है, इसीसे वह अंधेरे स्थानों से निकलना पसन्द करती हैं। हां, यह तो तुमने कहा ही नहीं, उसमें से मुझे क्या दोगी?

श्यामा चकित हो गई। बोली—यह क्या बात मौसी? मैं तो वह सब धन तुम्हारे ही लिए निकालने की बात सोच रही थी। मैं इतने धन का क्या करूंगी? मुझे तो कोई अभाव नहीं है।

मौसी आनन्द के मारे उछल पड़ी। परन्तु तुरन्त ही अपने को संभाल कर बोली—मैं वह सब धन कैसे ले सकती हूं बेटी! तेरी यह कैसी बात कि मुझे कोई अभाव नहीं है?

श्यामा को अपनी बात का प्रतिवाद सुनने का अभ्यास न था। क्षुण्ण हो कर बोली—झूठ बोलने की आदत मुझे नहीं। मैं ने सच ही कहा है, मुझे कोई अभाव नहीं है।

अब की बार मौसी गरम हो उठी। बोली—मैं नादान नहीं हूं बेटी, जो मुझे इस तरह बहलाना चाहती हो। तुम्हारे कुछ अभाव न होने की बात तो इस घर की बैठती हुई दीवारें ही कह रही हैं! यह खाट, ये लत्ते-कपड़े, ये इने-गिने बर्त्तन, यह तुम्हारा टूटा हुआ शरीर, सभी तो तुम्हारे अभाव न होने के साक्षी हो रहे हैं! इतनी भोली न बनो। मैं ने क्या देखा नहीं है कि तबीयत ठीक न होने पर भी आज तुम्हें बाहर का नाज पीसे बिना घर का चूल्हा सुलगाने की गति न थी।

क्षण-भर के लिए श्यामा निस्पन्द हो गई। कुछ देर बाद बोली—इस साल फ़सल बिलकुल नहीं हुई है, और मेरी तबीयत भी बिगड़ गई। इसीसे यह घर ऐसा हो रहा है। परन्तु यह सब तो मेरा अभाव है नहीं मौसी! इसके लिए तो मुझे कभी कष्ट नहीं हुआ। परन्तु इस तरह तुम न मानोगी, इसलिए आज तुमसे मुझे वह बात कहनी पड़ेगी, जो अब तक किसीसे नहीं कही।—यह कह कर वह वहां से उठ गई।

थोड़ी देर बाद वह कुछ ले आई, और मौसी के पैरों के पास मुट्ठी खोल कर खाली कर दी। उन्होंने देखा, कुछ कांच के-से टूकड़े हैं। उसने कहा—देखती हो मौसी, यह क्या है? यह सब धन अधिक नहीं, तो पच्चीस-तीस हज़ार का अवश्य होगा।

मौसी मानों एक दम आसमान से नीचे उतर कर चौंक पड़ी। बोली—तेरे पास इतनी सम्पत्ति और तू इस प्रकार रहती है!

श्यामा ने कहा—हां मौसी, यही बात है। बहुत दिन हुए, एक विपन्न परिवार ने कुछ ज़ेवर हमारे यहां सोने के भाव से भी सस्ते बेचे थे। यह समझा गया था कि इसमें जड़े हुए नग मामूली कांच हैं। इसलिये सोना निकाल कर बेच दिया गया था, ये नग यहीं पड़े रहे। उस समय किसी कारण-वश एक सोने की अंगूठी नहीं बिक सकी। उस बार उनके फूलों के साथ वह अंगूठी ले कर मैं प्रयागराज गई। जिनके यहां ठहरी, उन्हींके यहां बड़े घर की एक सेठानी ठहरी थीं। एक दिन अचानक दान में दी हुई मेरी वह अंगूठी देख कर वह चौंकीं। उन्होंने कहा—'यह तुम्हें कहां मिली? इसका नग तो बिलकुल पक्का है, पांच हजार से कम का न होगा।' सुन कर मुझे बड़ी रुलाई आई। स्वामी बिना चिकित्सा के रोग से घुल-घुल कर स्वर्गवासी हो गये, और उनकी जेब में ही इतनी बड़ी निधि पड़ी रही। उसी समय मैं ने समझ लिया कि घर पर पड़े हुए बाकी के नग भी मामूली नहीं हैं। मेरे मन में आया, अभी घर जाकर ये नग चूर चूर कर दूं। फिर सोचा—नहीं, यह ठीक नहीं। जिन रत्नों ने कांच का कपट-वेश रख कर मेरे स्वामी को इतना बड़ा धोखा दिया, उनके लिए यह दण्ड ठीक न होगा। मैं इन्हें उपेक्षापूर्वक घर की मिट्टी में, मामूली कांच की ही तरह, एक ओर डाल दूंगी। तभी से ये इसी तरह पड़े हुए हैं। स्वामी से कपट करने वाले रत्नों से किसी तरह का समझौता मुझे ठीक नहीं मालूम हुआ।

कहते-कहते श्यामा की आंखों से झर-झर आंसू झर उठे। मौसी भी अपने को संभाल न सकी। उठ कर उसने श्यामा को अंक में भर लिया। बोली—बेटी, मेरे सब तीर्थ, सब धर्म, सब कर्म पूरे हो गये, जो तुझ जैसी देवी के दर्शन मिले। अब मैं तुझसे एक बात और कहूंगी। जिन महात्मा ने मुझे खेत के उस धन का पता दिया है, उन्हें तेरे पास ले आऊंगी। जिस तरह खेत की मिट्टी अपने भीतर अपार धन रख कर भी सब जगह की साधारण मिट्टी जैसी ही बनी हुई है, उसी तरह वह महात्मा भी अपने भीतर अनन्त सिद्धि साधारण साधु के वेश में छिपाये हुए हैं। दया करके वह तेरे स्वामी को तुझसे मिला देंगे।

श्यामा ने कहा—क्षमा करो मौसी! इस समय मेरा जी न जाने कैसा हो गया है। स्वामी सब माया-बन्धन छोड़ कर मुक्त हो चुके हैं। अब इस लोक की मिट्टी में घसीट कर मैं उनका आनन्द क्यों भङ्ग करूं? विपत्ति के डर से भी

उन्होंने बाप-दादों का यह घर नहीं छोड़ा। अन्त-समय तक वह इसी में रहे। अब तो वह अपने सब पूर्वजों के बीच आनन्द से हैं। मेरे मन की तो सबसे बड़ी साध यही है कि समय आते ही उनकी सेवा में पहुंचूं, और पैरों पर सिर रख कर कह सकूं—'नाथ, मैं ने संसार को उसी प्रकार सहन कर लिया, जिस प्रकार तुमने।' बस और कुछ नहीं।

मौसी की आंखों से भी झर-झर आंसू झरने लगे।

* * * * * *

पार्वती ने कहा—चलिए नाथ, मुझे बहुत समय लग गया!

शङ्कर ने पूछा—आ गईं देवि! भक्त को क्या दे आईं?

कुछ नहीं नाथ, आंखों से भक्ति के आंसू भर ही। आपने ठीक ही कहा था, उसे कुछ नहीं दिया जा सकता। परन्तु इस हार के लिए मुझे लज्जा नहीं है।

भगवति! तुम उसे एक वस्तु देना भूल गई होगी।

क्या स्वामिन?

उसका स्वामी।

पत्थर की बेटी कह कर आप मेरी हंसी उड़ाया करते हैं। परन्तु भगवन्, मैं इतनी निर्बोध नहीं हूं। उसके स्वामी अहर्निश उसके साथ हैं। यह अभाव भी उसे नहीं है। हां, इस विषय में मेरी एक प्रार्थना है।

निस्संकोच कहो देवि!

उसके स्वामी को कैलास-धाम में ही बुला लीजिए, जिसमें समय पर वह महीयसी सीधी वहीं आ कर उनसे मिल सके।

तथास्तु। अब तुमने कुछ ठीक बात कही। तो चलो, और आगे चलें।

नहीं नाथ, तीर्थ-यात्रा करके सीधे घर को ही जाना चाहिए। इसलिए अब कैलाश को लौट चलिए।

श्रीरामनवमी १९८७

आचरण की सभ्यता

विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजत्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता को प्राप्त करके एक कंगाल आदमी राजाओं के दिलों पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत को अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है, विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्र-कला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनानेवाले के सामने नए कपोल, नए नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघंटु शुद्ध श्वेत पत्रोंवाला है। इसमें नाम मात्र के लिये भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सबके सब सभ्याचरण की भाषा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।

न काला, न नीला, न पीला, न सुफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी, न उत्तरी, न दक्षिणी, बे नाम, बे निशान, बे मकान—विशाल आत्मा के आचरण से मौन-रूपिणी सुगंधि सदा प्रसारित हुआ करती है। इसके मौन से प्रसूत प्रेम और पवित्रता-धर्म्म सारे जगत् का कल्याण करके विस्तृत होते हैं। इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋतु बदल जाती है। तीक्ष्ण गरमी से जले भुने व्यक्ति आचरण के बादलों की बूंदा-बांदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पन्न शरदृतु से क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगंधमय अटल वसंत ऋतु के आनंद का पान करते हैं। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भीग जाते हैं। आचरण के आनंद-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है।

नए नए विचार स्वयं ही प्रकट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच ही हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नए नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्रीभाव फूट पड़ता है। सूर्य्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास-पात, नर, नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुंदर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थवती और इतनी प्रभाववती होती है कि उसके सामने क्या मातृभाषा, क्या साहित्य-भाषा और क्या अन्य देश की भाषा——सबकी सब तुच्छ प्रतीत होती हैं। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौनभाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाड़ी में सुंदरता पिरो देता है। वह व्याख्यान ही क्या, जिसने हृदय की धुन को——मन के लक्ष्य को——ही न बदल दिया। चंद्रमा की मंद मंद हंसी का——तारागण के कटाक्ष-पूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर देखो। सूर्य्यास्त होने के पश्चात्, श्रीकेशवचंद्र सेन और महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर ने सारी रात, एक क्षण की तरह, गुज़ार दी ; यह तो कल की बात है। कमल और नरगिस में नयन देखनेवाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रेम की भाषा शब्द-रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्द-रहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण——प्रभाव, शील, अचल-स्थिति-संयुक्त आचरण——न तो साहित्य के लंबे व्याख्यानों से गढ़ा जा सकता है ; न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से ; न इंजील से ; न क़ुरान से; न धर्म्मचर्चा से ; न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य में घुसे हुए पुरुष के हृदय पर, प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से, सुनार के छोटे हथौड़े की मंद मंद चोटों की तरह, आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।

बर्फ़ का दुपट्टा बांधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुंदर, अति ऊंचा और गौरवान्वित मालूम होता है ; परंतु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक एक परमाणु समुद्र के जल में डुबो डुबोकर और उसको अपने विचित्र हथौड़ों से सुडौल कर करके इस हिमालय के दर्शन कराए हैं। आचरण भी

हिमालय की तरह एक ऊंचे कलशवाला मंदिर है। यह वह आम का पेड़ नहीं जिसको मदारी एक क्षण में, तुम्हारी आंखों में धूल डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने में अनंत काल लगा है। पृथ्वी बन गई, सूर्य बन गया, तारागण आकाश में दौड़ने लगे ; परंतु अभी तक आचरण के सुंदर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं कहीं उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखाई देती है।

पुस्तकों में लिखे हुए नुस्ख़ों से तो और भी अधिक बदहज़्मी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यदि घोलकर पी लिए जायं तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरण-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोचले हैं। ये आचरण की गुप्त गुहा में नहीं प्रवेश कर सकते। वहां इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेद इस देश में रहनेवालों के विश्वासानुसार ब्रह्मवाणी हैं, परंतु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत् की भिन्न भिन्न जातियों को संस्कृत भाषा न बुला सके—न समझा सके—न सिखा सके। यह बात हो कैसे ? ईश्वर तो सदा मौन है। ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। वह केवल आचरण के कान में गुरु-मंत्र फूंक सकता है। वह केवल ऋषि के अंतःकरण में वेद का ज्ञानोदय कर सकता है।

किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय तो हिल जाय, परंतु साहित्य और शब्द की गोलंदाज़ी और आंधी से उसके सिर के एक बाल तक का बांका न होना एक साधारण बात है। पुष्प की कोमल पंखड़ी के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जाय ; जल की शीतलता से क्रोध और विषय-वासना शांत हो जायं ; बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय ; सूर्य्य की ज्योति से नेत्र खुल जायं—परंतु अंगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलाइल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस में पंडितों के लिये रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएं और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञान-हीन पुरुषों के लिये स्टीम इंजिन के फप् फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते। यदि आप कहें कि व्याख्यानों द्वारा, उपदेशों द्वारा, धर्म्मचर्चा द्वारा कितने ही पुरुषों और नारियों के हृदय पर जीवन-व्यापी प्रभाव पड़ा है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव शब्द का नहीं पड़ता—प्रभाव तो सदा सदाचरण का पड़ता है। साधारण उपदेश

तो हर गिरजे, हर मठ और हर मसज़िद में होते हैं, परंतु उनका प्रभाव हम पर तभी पड़ता है जब गिरजे का पादड़ी स्वयं ईसा होता है—मंदिर का पूजारी स्वयं ब्रह्मर्षि होता है—मसज़िद का मुल्ला स्वयं पैगंबर और रसूल होता है।

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या की रक्षा के लिये—चाहे वह कन्या किसी जाति की हो, किसी मनुष्य की हो, किसी देश की हो—अपने आपको गंगा में फेंक दे—चाहे फिर उसके प्राण यह काम करने में रहें या जायं तो इस कार्य के प्रेरक आचरण की मौनमयी भाषा किस देश में, किस जाति में, और किस काल में, कौन नहीं समझ सकता? प्रेम का आचरण, उदारता का आचरण, दया का आचरण—क्या पशु और क्या मनुष्य—जगत् भर के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते हैं। जगत् भर के बच्चों की भाषा इस भाष्यहीन भाषा का चिह्न है। बालकों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य भी सब देशों में एक ही सा पाया जाता है।

एक दफे एक राजा जंगल में शिकार खेलते खेलते रास्ता भूल गया। उसके साथी पीछे रह गए। घोड़ा उसका मर गया। बंदूक हाथ में रह गई। रात का समय आ पहुंचा। देश बर्फ़ानी, रास्ते पहाड़ी। पानी बरस रहा है। रात अंधेरी है। ओले पड़ रहे हैं। ठंडी हवा उसकी हड्डियों तक को हिला रही है। प्रकृति ने, इस घड़ी, इस राजा को अनाथ बालक से भी अधिक बे-सरो-साभान कर दिया। इतने में दूर एक पहाड़ी की चोटी के नीचे टिमटिमाती हुई बत्ती की लौ दिखाई दी। कई मील तक पहाड़ के ऊंचे-नीचे उतार-चढ़ाव को पार करने से थका हुआ, भूखा और सर्दी से ठिठरा हुआ राजा उस बत्ती के पास पहुंचा। यह एक गरीब पहाड़ी किसान की कुटी थी। इसमें किसान, उसकी स्त्री और उनके दो-तीन बच्चे रहते थे। किसान शिकारी राजा को अपनी झोपड़ी में ले गया। आग जलाई। उसके वस्त्र सुखाए। दो मोटी मोटी रोटियां और साग उसके आगे रखा। उसने खुद भी खाया और शिकारी को भी खिलाया। ऊन और रीछ के चमड़े के नरम और गरम बिछौने पर उसने शिकारी को सुलाया। आप बे-बिछौने की भूमि पर सो रहा। धन्य है तू, हे मनुष्य! तू ईश्वर से क्या कम है! तू भी तो पवित्र और निष्काम रक्षा का कर्ता है। तू भी आपन्न जनों का आपत्ति से उद्धार करनेवाला है।

शिकारी कई रूसों का ज़ार ही क्यों न हो, इस समय तो एक रोटी और गरम बिस्तर पर—अग्नि की एक चिनगारी और टूटी छत पर—उसकी सारी राजधानियां बिक गईं। अब यदि वह अपना सारा राज्य उस किसान को, उसकी अमूल्य रक्षा के मोल में देना चाहे तो भी वह तुच्छ है; यदि वह अपना दिल ही देना चाहे तो भी वह तुच्छ है। अब उस निर्धन और निरक्षर पहाड़ी किसान की दया और उदारता के कर्म के मौन व्याख्यान को देखो। चाहे शिकारी को पता लगे चाहे न लगे, परंतु राजा के अंतस् के मौन-जीवन में उसने ईश्वरीय औदार्य्य की क़लम गाड़ दी। शिकार में अचानक रास्ता भूल जाने के कारण जब इस राजा को ज्ञान का एक परमाणु मिल गया तब कौन कह सकता है कि शिकारी का जीवन अच्छा नहीं। क्या जंगल के ऐसे जीवन में, इसी प्रकार के व्याख्यानों से, मनुष्य का जीवन, शनैः शनैः, नया रूप धारण नहीं करता? जिसने शिकारी के जीवन के दुःखों को नहीं सहन किया उसको क्या पता कि ऐसे जीवन की तह में किस प्रकार के और किस मिठास के आचरण का विकास होता है। इसी तरह क्या एक मनुष्य के जीवन में और क्या एक जाति के जीवन में—पवित्रता और अपवित्रता भी जीवन के आचरण को भली भांति गढ़ती है—और उस पर भली भांति कुन्दन करती है। जगाई और मधाई यदि पक्के लुटेरे न होते तो महाप्रभु चैतन्य के आचरण-संबंधी मौन व्याख्यान को ऐसी दृढ़ता से कैसे ग्रहण करते? कौन कह सकता है कि जीवन की पवित्रता और अपवित्रता के प्रतिद्वंद्वी भाव से संसार के आचरणों में एक अद्भुत पवित्रता का विकास नहीं होता! यदि मेरी माडेलिन वेश्या न होती तो कौन उसे ईसा के पास ले जाता और ईसा के मौन व्याख्यान के प्रभाव से किस तरह आज वह हमारी पूजनीया माता बनती? कौन कह सकता है कि ध्रुव की सौतेली माता अपनी कठोरता से ही ध्रुव को अटल बनाने में वैसी ही सहायक नहीं हुई जैसी कि स्वयं ध्रुव की माता।

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसके आचरण को रूप देने के लिये नाना प्रकार के ऊंच-नीच और भले-बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता पहुंचाते हैं। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि पवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत् में हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अंतरात्मा वही काम करती है जो बाह्य पदार्थों

के संयोग का प्रतिबिंब होता है। जिनको हम पवित्रात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन किन कूपों से निकलकर वे अब उदय को प्राप्त हुए हैं? जिनको हम धर्मात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन किन अधर्मों को करके वे धर्मज्ञान को पा सके हैं? जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन में पवित्रता को ही सब कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अधर्मपूर्ण अपवित्रता में लिप्त रहे हों? अपने जन्मजन्मांतरों के संस्कारों से भरी हुई अंधकार-मय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल चुका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्र-रहित को सूर्य्य से क्या लाभ? हृदय-रहित को प्रेम से क्या लाभ? बहरे को रांग से क्या लाभ? कविता, साहित्य, पीर, पैगम्बर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों से लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ? जब तक जीवन का बीज पृथ्वी के मल-मूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित होकर उससे दो नए पत्ते ऊपर नहीं निकल आए, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम के?

जगत् के अनेक संप्रदाय अनदेखी और अनजानी वस्तुओं का वर्णन करते हैं; पर अपने नेत्र तो अभी माया-पटल से बंद हैं—और धर्मानुभव के लिये मायाजाल में उनका बंद होना आवश्यक भी है। इस कारण मैं उनके अर्थ कैसे जान सकता हूं? वे भाव —वे आचरण—जो उन आचार्यों के हृदय में थे और जो उनके शब्दों के अंतर्गत मौनावस्था में पड़े हुए हैं, उनके साथ मेरा संबंध, जब तक मेरा भी आचरण उसी प्रकार का न हो जाय, तब तक हो ही कैसे सकता है? ऋषि को तो मौन पदार्थ भी उपदेश दे सकते हैं; टूटे-फूटे शब्द भी अपना अर्थ भासित कर सकते हैं, तुच्छ से भी तुच्छ वस्तु उसकी आंखों में उसी महत्ता का चिह्न है जिसका चिह्न उत्तम उत्तम पदार्थ हैं। राजा में फ़क़ीर छिपा है और फ़क़ीर में राजा। बड़े से बड़े पंडित में मूर्ख छिपा है और बड़े से बड़े मूर्ख में पंडित। वीर में कायर और कायर में वीर सोता है। पापी में महात्मा और महात्मा में पापी डूबा हुआ है।

वह आचरण, जो धर्म-संप्रदायों के अनुच्चारित शब्दों को सुनता है, हममें

कहां ? जब वही नहीं तब फिर क्यों न ये संप्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों के कुरुक्षेत्र बनें ? क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और अत्याचार इन संप्रदायों के नाम से हमारा खून करें ? कोई भी धर्मसंप्रदाय आचरण-रहित पुरुषों के लिये कल्याणकारक नहीं हो सकता और आचरणवाले पुरुषों के लिये सभी धर्म-संप्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश है। आचरण के विकास के लिये जितने कर्म हैं उन सबको आचरण संघटित करनेवाले धर्म के अंग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिये वह सबको एक पथ नहीं बता सकता। आचरणशील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनाई हुई सड़क से नहीं आया ; उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनाई थी। इसी से उसके बनाए हुए रास्ते पर चलकर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढांचे में नहीं ढाल सकते। हमें अपना रास्ता अपने ही जीवन की कुदाली की एक एक चोट से रात-दिन बनाना पड़ेगा और उसी पर चलना भी पड़ेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार अपनी नैया आप ही चलानी पड़ेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो ऐसे ज्ञान ही से क्या प्रयोजन ? जब तक मैं अपना हथौड़ा ठीक ठीक चलाता हूं और रूपहीन लोहे को तलवार के रूप में गढ़ देता हूं तब तक यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो न होने दो। उस ज्ञान से मुझे प्रयोजन ही क्या ? जब तक मैं अपना उद्धार ठीक और शुद्ध रीति से किए जाता हूं तब तक यदि मुझे आध्यात्मिक पवित्रता का ज्ञान नहीं तो न होने दो। उससे सिद्धि ही क्या हो सकती है ? जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय में इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महाभयानक समय में भी अपने जहाज को नहीं छोड़ता तब तक यदि वह मेरी और तेरी दृष्टि में शराबी ही है तो उसे वैसा होने दो। उसकी बुरी बातों से हमें प्रयोजन ही क्या ? आंधी हो—बरफ हो—बिजली की कड़क हो—समुद्र का तूफ़ान हो—वह दिन-रात आंख खोले अपने जहाज़ की रक्षा के

लिये जहाज़ के पुल पर घूमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज़ के साथ समुद्र में डूब जाता है ; परंतु अपना जीवन बचाने के लिये कोई उपाय नहीं करता। क्या उसके आचरण का यह अंश मेरे-तेरे बिस्तर और आसन पर बैठे बिठाए कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से कम महत्त्व का है ?

न मैं किसी गिरजे में जाता हूं और न किसी मंदिर में ; न मैं नमाज़ पढ़ता हूं और न रोज़ा ही रखता हूं ; न सन्ध्या ही करता हूं और न कोई देवपूजा ही करता हूं ; न किसी आचार्य के नाम का मुझे पता है और न किसी के आगे मैंने सिर ही झुकाया है। इन सबसे प्रयोजन ही क्या और हानि भी क्या ? मैं तो अपनी खेती करता हूं ; अपने हल और बैलों को प्रातःकाल उठकर प्रणाम करता हूं ; मेरा जीवन जंगल के पेड़ों और पक्षियों की संगति में बीतता है ; आकाश के बादलों को देखते देखते मेरा दिन निकल जाता है। मैं किसी को धोखा नहीं देता ; हां, यदि मुझे कोई धोखा दे तो उससे मेरी कोई हानि नहीं। मेरे खेत में अन्न उग रहा है ; मेरा घर अन्न से भरा है ; बिस्तर के लिये मुझे एक कमली काफी है, कमर के लिये एक लंगोटी और सिर के लिये एक टोपी बस है। हाथ-पांव मेरे बलवान् हैं ; शरीर मेरा निरोग है ; भूख खूब लगती है ; बाजरा और मकई, छाछ और दही, दूध और मक्खन मुझे और मेरे बच्चों के लिये खाने को मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सचाई में वह मिठास नहीं जिसकी प्राप्ति के लिये भिन्न भिन्न धर्म-संप्रदाय लंबी-चौड़ी और चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा दीक्षा दिया करते हैं ?

जब साहित्य, संगीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतारकर मख़मल के गद्दों पर लिटा दिया--जब आलस्य और विषय-विकार की लंपटता ने जंगल और पहाड़ की साफ़ हवा के असभ्य और उद्दंड जीवन से रोमवालों का मुख मोड़ दिया तब रोम नरम तकियों और बिस्तरों पर ऐसा सोया कि अब तक न आप जागा और न कोई उसे जगा ही सका। ऐंग्लो-सैक्सन जाति ने जो उच्च पद प्राप्त किया था वह उसने अपने समुद्र, जंगल और पर्वत से सम्बन्ध रखनेवाले जीवन से ही प्राप्त किया था। इस जाति की उन्नति लड़ने-भिड़ने, मरने-मारने, लूटने और लूटे जाने, शिकार करने और शिकार होनेवाले जीवन का ही परिणाम है। लोग कहते हैं कि केवल धर्म ही जाति को उन्नत करता है। यह ठीक है, परंतु

वह धर्मांकुर, जो जाति को उन्नत करता है, इस असभ्य, कमीने और पाप-मय जीवन की गंदी राख के ढेर के ऊपर नहीं उगता है। मंदिरों और गिरजों की मंद मंद टिमटिमाती हुई मोमबत्तियों की रोशनी से यूरोप इस उच्चावस्था को नहीं पहुंचा। वह कठोर जीवन, जिसको देशदेशांतरों को ढूंढ़ते फिरते रहने के बिना शांति नहीं मिलती ; जिसकी अंतर्ज्वाला दूसरी जातियों को जीतने, लूटने, मारने और उन पर राज करने के बिना मंद नहीं पड़ती—केवल वही विशाल जीवन समुद्र की छांती पर मूंग दलकर और पहाड़ों को फांदकर उनको उस महत्ता की ओर ले गया और ले जा रहा है। राबिन हुड की प्रशंसा में इंगलैंड के जो कवि अपनी सारी शक्ति खर्च कर देते हैं उन्हें तत्त्वदर्शी कहना चाहिए ; क्योंकि राबिन हुड जैसे भौतिक पदार्थों से ही नेलसन और वेलिंगटन जैसे अंगरेज वीरों की हड्डियां तैयार हुई थीं। लड़ाई के आजकल के सामान—गोले, बारूद, जंगी जहाज़ और तिजारती बेड़ों आदि—को देखकर कहना पड़ता है कि इनसे वर्तमान सभ्यता से भी कहीं अधिक उच्च सभ्यता का जन्म होगा।

यदि यूरोप के समुद्रों में जंगी जहाज़ मक्खियों की तरह न फैल जाते और यूरोप का घर घर सोने और हीरे से न भर जाता तो वहां पदार्थ-विद्या के सच्चे आचार्य और ऋषि कभी न उत्पन्न होते। पश्चिमीय ज्ञान से मनुष्य मात्र को लाभ हुआ है। एक तरफ यदि यूरोप के जीवन का एक अंश असभ्य प्रतीत होता है—कमीना और कायरता से भरा हुआ मालूम होता है—तो वहीं दूसरी ओर यूरोप के जीवन का वह भाग, जिसमें विद्या और ज्ञान के ऋषियों का सूर्य्य चमक रहा है, इतना महान् है कि थोड़े ही समय में पहले अंश को मनुष्य अवश्य ही भूल जायंगे।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्य-वर्धक भूमि देने के लिये, जिससे वह प्रकाश और वायु में खिलता रहे, सदा फूलता रहे, सदा फलता रहे, यह आवश्यक है कि बहुत से हाथ एक अनंत प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहें। धर्म की रक्षा के लिये क्षत्रियों को सदा ही कमर बांधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो यही अर्थ था।

हिंदुओं का संबंध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता तो उनके वर्तमान वंश में अधिक बलवान् श्रेणी के मनुष्य होते—तो उनके भी ऋषि,

पराक्रमी, जनरल और धीर-वीर पुरुष उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिषदों के ऋषियों के पवित्रतामय प्रेम के जीवन को देख देखकर अहंकार में मग्न हो रहे हैं और दिन पर दिन अधोगति की ओर जा रहे हैं। यदि वे किसी जंगली जाति की संतान होते तो उनमें भी ऋषि और बलवान् योद्धा होते। ऋषियों को पैदा करने के योग्य असभ्य पृथ्वी का बन जाना तो आसान है; परंतु ऋषियों को अपनी उन्नति के लिये राख और पृथ्वी बनाना कठिन है; क्योंकि ऋषि तो केवल अनंत प्रकृति पर सजते हैं; हमारी जैसी पुष्प-शय्या पर मुरझा जाते हैं। माना कि प्राचीन काल में, यूरोप में सभी असभ्य थे; परंतु आजकल तो हम असभ्य हैं। उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषि-जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शय्या पर आजकल असभ्यता का रंग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात् अपनी ऊंची चोटी के ऊपर इन फूलों को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमों का पालन करना है।

तारागणों को देखते देखते भारतवर्ष समुद्र में अब गिरा तब गिरा हो रहा है। एक कदम और, और धड़ाम से नीचे! कारण इसका केवल यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूं; हवा में पद्मासन जमा सकता हूं; पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूं; योगसिद्धि द्वारा सूर्य्य और तारों के गूढ़ भेदों को जान सकता हूं; समुद्र की लहरों पर वेखटके सो सकता हूं। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा; परंतु अब तक ऐसी एक भी बात सत्य सिद्ध नहीं हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो वेधड़क शंख फूंक दो! कूच का घड़ियाल बजा दो। कह दो, भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ।

लेखक का तात्पर्य केवल यह है कि आचरण केवल मन के स्वप्नों से नहीं बना करता। उसका सिर तो शिलाओं के ऊपर घिस घिसकर बनता है; उसके फूल सूर्य्य की गरमी और समुद्र के नमकीन पानी से बारंबार भीगकर और सूखकर अपनी लाली पकड़ते हैं।

हजारों साल से धर्म-पुस्तकें खुली हुई हैं। अभी तक उनसे तुम्हें कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ। तो फिर अपने हठ में क्यों मर रहे हो? अपनी अपनी

स्थिति को क्यों नहीं देखते ? अपनी अपनी कुदाली हाथ में लेकर क्यों नहीं आगे बढ़ते ? पीछे मुड़ मुड़कर देखने से क्या लाभ ? अब तो खुले जगत् में अपने अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ दो। तुममें से हर एक को अपना अश्वमेध करना है। चलो तो सही। अपने आपकी परीक्षा करो।

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडंबरों से होती तो आजकल भारत-निवासी सूर्य्य के समान शुद्ध आचरणवाले हो जाते। भाई ! माला से तो जप नहीं होता। गंगा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ करता है, समुद्र में तैरने से नेती धुलती है ; आंधी, पानी और साधारण जीवन के ऊंच-नीच, गरमी-सरदी, गरीबी-अमीरी के झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नों की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र में अपने जहाज पर बैठकर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चंद्र और सूर्य भी केवल आटे की बड़ी बड़ी दो रोटियों से प्रतीत होते हैं। कुटिया में बैठकर ही धूप, आंधी और बर्फ़ की दिव्य शोभा का आनंद आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने ही पर मानसिक सभ्यता आती है और तभी स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण-सभ्यता की प्राप्ति संभव है, और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जब तक निर्धन पुरुष पाप से अपना पेट भरता है तब तक धनवान् पुरुष के शुद्धाचरण की पूरी परीक्षा नहीं। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है, तब तक ज्ञानवान् के आचरण की पूरी परीक्षा नहीं—तब तक जगत् में, आचरण की सभ्यता का राज्य नहीं।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक न आध्यात्मिक। न उसमें विद्रोह है, न जंग ही का नामोनिशान है और न वहां कोई ऊंचा है, न नीचा। न कोई वहां धनवान् है और न कोई निर्धन। वहां तो प्रेम और एकता का अखंड राज्य रहता है।

हर एक पदार्थ को परमाणुओं में परिणत करके उसके प्रत्येक परमाणु में अपने आपको ढूंढ़ना—अपने आपको एकत्र करना—अपने आचरण को प्राप्त करना है। आचरण की प्राप्ति एकता की दशा की प्राप्ति है। चाहे फूलों की शय्या हो चाहे कांटों की ; चाहे निर्धन हो चाहे धनवान् ; चाहे राजा हो चाहे किसान ;

चाहे रोगी हो चाहे नीरोग—हृदय इतना विशाल हो जाता है कि उसमें सारा संसार बिस्तर लगाकर आनंद से आराम कर सकता है ; जीवन आकाशवत् हो जाता है और नाना रूप और रंग अपनी अपनी शोभा में बेखटके निर्भय होकर स्थित रह सकते हैं। आचरणवाले नयनों का मौन व्याख्यान केवल यह है—"सब कुछ अच्छा है, सब कुछ भला है।" जिस समय आचरण की सभ्यता संसार में आती है उस समय नीले आकाश से मनुष्य को वेद-ध्वनि सुनाई देती है, नरनारी पुष्पवत् खिल जाते हैं ; प्रभात हो जाता है, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूंज उठता है ; शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बांसुरी की धुन प्रारंभ हो जाती है। जहां ऐसे शब्द होते हैं, जहां ऐसे पुरुष रहते हैं, जहां ऐसी ज्योति होती है, वहीं आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुंच जाय, सोना अच्छा नहीं। चाहे वेदों में, चाहे इंजील में, चाहे क़ुरान में, चाहे त्रिपिटक में, चाहे इस स्थान में, चाहे उस स्थान में, कहीं भी सोना अच्छा नहीं। आलस्य मृत्यु है।

लेख तो पेड़ों के चित्र सदृश होते हैं, पेड़ तो होते ही नहीं जो फल लावें। लेखक ने यह चित्र इसलिये अंकित किया है कि इस चित्र को देखकर शायद कोई असली पेड़ को जाकर देखने का यत्न करे।

पद्यांश

कबीर की साखियां

प्रेम

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइं धरै तब पैठे घर माहिं ॥१
सीस उतारै भुइं धरै ता पर राखै पाव।
दास कबीरा यौं कहै ऐसा होय तौ आव ॥२
प्रेम न बाड़ी ऊपजै प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहिं रुचै सीस देइ लै जाय ॥३
प्रेम पियाला जो पियै सीस दच्छिना देय।
लोभी सीस न दै सकै नाम प्रेम का लेय ॥४
छिनहिं चढ़ै छिन ऊतरै सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै प्रेम कहावै सोय ॥५
जब मैं था तब गुरु नहीं अब गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम गली अति सांकरी ता मैं दो न समाहिं ॥६
जा घट प्रेम न संचरै सो घट जान मसान।
जैसे खाल लोहार की सांस लेत बिनु प्रान ॥७
उठा बगूला प्रेम का तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला तिन का तिन के पास ॥८
सौ जोजन साजन बसै मानो हृदय मंझार।
कपट सनेही आंगने जानु समुंदर पार ॥९
यह तत वह तत एक है एक प्रान दुइ गात।
अपने जिय से जानिए मेरे जिय की बात ॥१०

हम तुम्हरो सुमिरन कर तुम मोहिं चितवौ नाहिं।
सुमिरन मन की प्रीति है सो मन तुमहीं माहिं ॥११
प्रीति जो लागी घुल गई पैठि गई मन माहिं।
रोम रोम पिउ पिउ करै मुख की सरधा नाहिं ॥१२
जो जागत सो स्वप्न में ज्यों घट भीतर स्वांस।
जो जन जाको भावता सो जन ताके पास ॥१३
पीया चाहै प्रेम रस राखा चाहै मान।
एक म्यान में दो खड़ग देखा सुना न कान ॥१४
कबिरा प्याला प्रेम का अंतर लिया लगाय।
रोम रोम में रमि रहा और अमल क्या खाय ॥१५
कबिरा हम गुरु रस पिया बाकी रही न छाक।
पाका कलस कुम्हार का बहुरि न चढ़सी चाक ॥१६
सबै रसायन मैं किया प्रेम समान न कोय।
रती एक तन संचरै सब तन कंचन होय ॥१७
राता माता नाम का पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदार का मांगै मुकुति बलाय ॥१८
मिलना जग में कठिन है मिलि बिछुड़ौ जनि कोय।
बिछुड़ा साजन तेहि मिलै जिन माथे मनि होय ॥१९
जोई मिलै सो प्रीति में और मिलै सब कोय।
मन से मनसा ना मिले देह मिले का होय ॥२०
नैनों की करि कोठरी पुतरी पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के पिय को लिया रिझाय ॥२१
जब लगि मरने से डरै तब लगि प्रेमी नाहिं।
बड़ी दूर है प्रेम घर समझ लेहु मन माहिं ॥२२
हरि से तू जनि हेत कर कर हरिजन से हेत।
माल मुलुक हरि देत हैं हरिजन हरिहीं देत ॥२३
कहा भयो तन बीछुरे दूरि बसे जे बास।
नैनोही अंतर परा प्राण तुम्हारे पास ॥२४

जल में बसै कुमोदिनी चंदा बसै अकास।
जो है जाको भावता सो ताही के पास ॥२५
प्रीतम को पतियां लिखूं जो कहुं होय विदेस।
तन में मन में नैन में ताको कहा संदेस ॥२६
अगिनि आंच सहना सुगम सुगम खड़ग की धार।
नेह निभावन एक रस महा कठिन ब्योहार ॥२७
नेह निभाए ही बनै सीचे बनै न आन।
तन दै मन दै सीस दै नेह न दीजै जान ॥२८
कांच कथीर अधीर नर ताहि न उपजै प्रेम।
कह कबीर कसनी सहै कै हीरा कै हेम ॥२९
कसत कसौटी जो टिकै ताको सब्द सुनाय।
सोई हमरा बंस है कह कबीर समुझाय ॥३०

स्मरण

दुख में सुमिरन सब करैं सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै तो दुख काहे होय ॥३१
सुख में सुमिरन ना किया दुख में कीया याद।
कह कबीर ता दास की कौन सुनै फिरियाद ॥३२
सुमिरन की सुधि यौं करौ जैसे कामी काम।
एक पलक बिसरै नहीं निस दिन आठौ जाम ॥३३
सुमिरन सों मन लाइए जैसे नाद कुरंग।
कह कबीर बिसरै नहीं प्रान तजै तेहि संग ॥३४
सुमिरन सुरत लगाइ के मुख तें कछू न बोल।
बाहर के पट देइ के अंतर के पट खोल ॥३५
माला फेरत जुग गया फिरा न मन का फेर।
कर का मन का डारि दे मन का मनका फेर ॥३६
कबिरा माला मनहिं की और संसारी भेख।
माला फेरे हरि मिलैं गले रहंट के देख ॥३७

कबिरा माला काठ की बहुत जतन का फेर।
माला स्वास उसास की जामें गांठ न मेर ॥३८

सहजै ही धुन होत है हर दम घट के माहिं।
सुरत सबद मेला भया मुख की हाजत नाहिं ॥३९

माला तौ कर में फिरै जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवां तो दहुं दिसि फिरै यह तो सुमिरन नाहिं ॥४०

तन थिर मन थिर बचन थिर सुरत निरत थिर होय।
कह कबीर एहि पलक का कलप न पावै कोय ॥४१

जाप मरै अजपा मरै अनहद भी मरि जाय।
सुरत समानी सबद में ताहि काल नहि खाय ॥४२

कबिर छुधा है कूकरी करत भजन में भंग।
याको टुकड़ा डारि कै सुमिरन करौ निसंक ॥४३

विश्वास

कबिरा का मैं चितहूं मम चिते का होय।
मेरी चिता हरि करैं चिता मोहिं न कोय ॥४४

साधू गांठि न बांधई उदर समाता लेय।
आगे पाछे हरि खड़े जब मांगै तव देय ॥४५

पौ फाटी पगरा भया जागे जीवा जून।
सब काहू को देत है चोंच समाता चून ॥४६

करम करीमा लिखि रहा अब कुछ लिखा न होय।
मासा घटै न तिल बढ़ै जो सिर फोरै कोय ॥४७

साईं इतना दीजिए जामें कुटुंम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूं साधु न भुखा जाय ॥४८

गाया जिन पाया नहीं अनगाए तें दूरि।
जिन गाया बिस्वास गहि ताके सदा हजूरि ॥४९

बिरहिन

बिरहिन देय संदेसरा सुनौ हमारे पीव।
जल बिन मछरी क्यों जिए पानी में का जीव ॥५०
अंखियां तौ झांईं परीं पंथ निहार निहार।
जीहड़िया छाला परा नाम पुकार पुकार ॥५१
नैनन तो झरि लाइया रहट बहै निसु बास।
पपिहा ज्यों पिउ पिउ रटै पिया मिलन की आस ॥५२
बहुत दिनन की जोवती रटत तुम्हारो नाम।
जिव तरसै तुव मिलन को मन नाहीं बिश्राम ॥५३
बिरह भुवंगम तन डसा मंत्र न लागै कोय।
नाम वियोगी ना जिए जिए तो बाउर होय ॥५४
बिरह भुवंगम पैठि कै किया कलेजे घाव।
बिरही अंग न मोड़िहै ज्यों भावै त्यों खाव ॥५५
कै बिरहिन को मीचि दै कै आपा दिखराय।
आठ पहर का दाझना मो पै सहा न जाय ॥५६
बिरह कमंडल कर लिए बैरागी दुइ नैन।
मांगै दरस मधूकरी छके रहैं दिन रैन ॥५७
यहि तन का दिवला करौं बाती मेलौं जीव।
लोहू सींचौं तेल ज्यों कब मुख देखौं पीव ॥५८
बिरही आयां दरस कूं करुआ लागा काम।
काया लागी काल होय मीठा लागा नाम ॥५९
हंस हंस कंत न पाइया जिन पाया तिन रोय।
हांसी खेले पिय मिलै तो कौन दुहागिन होय ॥६०
मांस गया पिंजर रहा ताकन लागे काग।
साहेब अजहुं न आइया मंद हमारे भाग ॥६१
अंखियां प्रेम बसाइया जनि जाने दुखदाय।
नाम सनेही कारने रो रो रात बिताय ॥६२

हवस करै पिय मिलन की औ सुख चाहै अंग।
पीर सहे बिनु पदमिनी पूत न लेत उछंग।।६३
बिरहिन ओदी लाकड़ी सचपै औ धुंधुआय।
छूटि परै या विरह ते जौ सिगरी जरि जाय।।६४
परबत परबत मैं फिरी नैन गंवायो रोय।
बूटी सो पायी नही जाते जीवन होय।।६५
हिरदे भीतर दव बलै धुआं न परगट होय।
जाके लागी सो लखै की जिन लाई सोय।।६६
सबही तरु तर जाइ के सब फल लीन्हों चीख।
फिरि फिरि मांगत कबिर है दरसन ही की भीख।।६७
पिय बिन जिय तरसत रहै पल पल बिरह सताय।
रैन दिवस मोहिं कल नही सिसक सिसक जिय जाय।।६८
सांई सेवत जरि गई मास न रहिया देह।
सांई जब लगि सेइहौं यह तन होय न खेह।।६९
बिरहा बिरहा मत कहौ बिरहा है सुल्तान।
जा घट बिरह न संचरै सो घट जान मसान।।७०
देखत देखत दिन गया निसि हू देखत जाय।
बिरहिन पिय पावै नहीं केवल जिय घबराय।।७१
सो दिन कैसा होयगा गुरू गहेंगे बांह।
अपने कर बैठावहीं चरनकंवल की छांह।।७२
जो जन बिरही नाम के सदा मगन मन मांहि।
ज्यों दरपन की सुंदरी किनहूं पकरी नांहि।।७३
चकई बिछुरी रैन की आय मिली परभात।
सतगुरु से जो बीछुरे मिले दिवस नहिं रात।।७४
बिरहिन उठि उठि भुइं परै दरसन कारन राम।
मूए पाछे देहुगे सो दरसन केहि काम।।७५
मूए पाछे मत मिलौ कहै कबीरा राम।
लोहा माटी मिलि गया तब पारस केहि काम।।७६

सब रग तांत रबाब तन बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै कै सांई कै चित्त॥७७

तूं मति जानै बीसरूं प्रीति घटै मम चित्त।
मरौंतौ तुम सुमिरत मरौं जिऔं तौ सुमिरौं नित्त॥७८

बिरह अगिन तन मन जरा लागि रहा तत जीव।
कै वा जानै बिरहिनी कै जिन भेंटा पीव॥७९

कबिरा बैद बुलाइया पकरि कै देखी बांह।
बैद न बेदन जानई करक करेजे मांहि॥८०

बिरह बान जेहि लागिया औषध लगत न ताहि।
सुसुकि सुसुकि मरि मरि जियै उठै कराहि कराहि॥८१

परीक्षक (पारखी)

हीरा तहां न खोलिए जहं खोटी है हाट।
कस करि बांधो गाठरी उठिकर चालौ बाट॥८२

हीरा पाया परखि के घन में दीया आन।
चोट सही फूटा नहीं तव पाई पहिचान॥८३

जो हंसा मोती चुगै कांकर क्यों पतियाय।
कांकर माथा ना नवै मोती मिलै तो खाय॥८४

हंसा बगुला एक सा मानसरोवर मांहि।
बगा ढंढोरै माछरी हंसा मोती खांहि॥८५

चंदन गया बिदेसड़े सब कोइ कहै पलास।
ज्यों ज्यों चूल्हे झोंकिया त्यों त्यों अधिकी बास॥८६

एक अचंभा देखिया हीरा हाट बिकाय।
परखनहारा बाहिरी कौड़ी बदले जाय॥८७

दाम रतन धन पाइकै गांठि बांधि ना खोल।
नाहिं पटन नहिं पारखी नहिं गाहक नहिं मोल॥८८

पारस रूपी जीव है लोह रूप संसार।
पारस ते पारस भया परख भया टकसार॥८९

अमृत केरी पूरिया बहु बिधि लीन्ही छोरि।
आप सरीखा जो मिले ताहि पिआऊं घोरि ॥९०
काजर ही की कोठरी काजर ही का कोट।
तौ भी कारी ना भई रही जो ओटहिं ओट ॥९१
ज्ञान रतन की कोठरी चुप करि दीन्ही ताल।
पारखि आगे खोलिए कुंजी बचन रसाल ॥९२
नग पखान जग सकल है लखि आवै सब कोइ।
नग ते उत्तम पारखी जग में बिरला कोइ ॥९३
बलिहारी तिहि पुरुष की पर चित परखनहार।
सांई दीन्ही खांड़ को खारी बूझ गंवार ॥९४
हीरा वही सराहिए सहै घनन की चोट।
कपट कुरंगी मानवा परखत निकसा खोट ॥९५
हीरा परा बज़ार में रहा छार लपटाय।
बहुतक मूरख चलि गए पारखि लिया उठाय ॥९६
कलि खोटा जग आंधरा सबद न मानै कोय।
जाहि कहौं हित आपना सो उठि बैरी होय ॥९७

—कबीरदास

श्री उद्धव को मथुरा से ब्रज भेजते समय के कवित्त

न्हात जमुना में जलजात एक देख्यौ जात
जाकौ अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।
कहै रतनाकर उमहि गहि स्याम ताहि
बास-बासना सौं नैंकु नासिका लगायौ है ॥१

त्यौंहीं कछु घूमि झूमि बेसुध भए कै हाय
पाय परे उखरि अभाय मुख छायौ है।
पाए घरी द्वैक मै जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर
राधा-नाम कीर जब औचक सुनायौ है॥२

आए भुज-बंध दिए ऊधव-सखा कैं कंध
डग-मग पाय मग धरत धराए है।
कहै रतनाकर न बूझै कछु बोलत औ
खोलत न नैन हूं अचैन चित छाए हैं॥३

पाइ बहे कुंज मैं सुगंध राधिका कौ मंजु
ध्याए कदली-बन मतंग लौं मताए है।
कान्ह गए जमुना नहान पै नए सिर सौं
नीकैं तहां नेह की नदी मैं न्हाइ आए हैं॥४

देखि दूरि ही तैं दौरि पौरि लगि भेंटि ल्याइ
आसन दै सांसनि समेटि सकुचानि तैं।
कहै रतनाकर यौं गुनन गुबिंद लागे
जौलौं कछु भूले से भ्रमे से अकुलानि तैं॥५

कहा कहैं ऊधौ सौं कहै हूं तौ कहां लौं कहैं
कैसैं कहैं कहैं पुनि कौन सी उठानि तैं।
तौलौं अधिकाई तैं उमगि कंठ आइ भिचि
नीर ह्वै बहन लागी बात अंखियानि तैं॥६

बिरह-बिथा की कथा अकथ अथाह महा
कहत बनै न जो प्रबीन सुकबीनि सौं।
कहै रतनाकर बुझावन लगे ज्यौं कान्ह
ऊधौ कौं कहन-हेत ब्रज-जुवतीनि सौं॥७

गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं
प्रेम पर्‌यौ चपल चुचाइ पुतरीनि सौं।
नैंकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं ॥८

नंद औ जसोमति के प्रेम-पगे पालन की
लाड़-भरे लालन की लालच लगावती।
कहै रतनाकर सुधाकर-प्रभा सौं मढ़ी
मंजु मृगनैनिनि के गुन-गन गावती ॥९

जमुना-कछारनि की रंग-रस-रारनि की
बिपिन-बिहारनि की हौंस हुमसावती।
सुधि ब्रज-बासिनि दिवैया सुख-रासिनि की
ऊधौ नित हमकौं बुलावन कौं आवती ॥१०

चलत न चार्‌यौ भांति कोटिनि बिचार्‌यौ तऊ
दाबि दाबि हार्‌यौ पै न टार्‌यौ टसकत है।
परम गहीली बसुदेव-देवकी की मिली
चाह-चिमटी हूं सौं न खैंचौ खसकत है ॥११

कढ़त न क्यौं हूं हाय बिथके उपाय सबै
धीर-आक-छीर हूं न धारैं धसकत है।
ऊधौ ब्रज-बास के बिलासनि कौ ध्यान धंस्यौ
निसि-दिन कांटे लौं करेजैं कसकत है ॥१२

रूप-रस पीवत अघात ना हुते जो तब
सोई अब आंस ह्वै उबरि गिरिबौ करैं।
कहै रतनाकर जुड़ात हुते देखैं जिन्हें
याद किएं तिनकौं अंवां सौं घिरिबौ करैं ॥१३

दिननि के फेर सौं भयौ है हेर-फेर ऐसौ
जाकौं हेरि फेरि हेरिबौई हिरिबौ करैं।
फिरत हुते जू जिन कुंजनि मैं आठौं जाम
नैननि मैं अब सोई कुंज फिरिबौ करैं ॥१४

गोकुल की गैल-गैल गैल-गैल ग्वालनि की
गोरस कैं काज लाज-बस कै बहाइबौ।
कहै रतनाकर रिझाइबौ नबेलिनि कौं
गाइबौ गवाइबौ औ नाचिबौ नचाइबौ ॥१५

कीबौ स्रमहार मनुहार कै बिबिध बिधि
मोहिनी मृदुल मंजु बांसुरी बजाइबौ।
ऊधौ सुख-संपति-समाज ब्रज-मंडल के
भूलैं हूं न भूलैं भूलै हमकौं भुलाइबौ ॥१६

मोर के पखीवनि कौ मुकुट छबीलौ छोरि
क्रीट मनि-मंडित धराइ करिहैं कहा।
कहै रतनाकर त्यौं माखन-सनेही बिनु
षट-रस ब्यंजन चबाइ करिहैं कहा ॥१७

गोपी ग्वाल-बालनि कौं झोंकि बिरहानल मैं
हरि सुर-बृंद की बलाइ करिहैं कहा।
प्यारौ नाम गोबिंद गुपाल कौ बिहाइ हाय
ठाकुर त्रिलोक के कहाइ करिहैं कहा ॥१८

कहत गुपाल माल मंजु मनि-पुंजनि की
गुंजनि की माल की मिसाल छबि छावै ना।
कहै रतनाकर रतन-मै किरीट अच्छ
मोर-पच्छ-अच्छ-लच्छ-अंसहू सु-भावै ना ॥१९

जसुमति मैया की मलैया अरु माखन कौ
- काम-धेनु-गोरस हू गूढ़ गुन पावै ना।
गोकुल की रज के कनूका औ तिनूका सम
संपति त्रिलोक की बिलोकन में आवै ना ॥२०

राधा-मुख-मंजुल-सुधाकर के ध्यान ही सौं
प्रेम-रतनाकर हियें यौं उमगत है।
त्यौंहीं बिरहातप प्रचंड सौं उमंडि अति
ऊरध उसास कौ झकोर यौं जगत है ॥२१

केवट बिचार कौ बिचारौ पचि हारि जात
होत गुन-पाल ततकाल नभ-गत है।
करत गंभीर धीर-लंगर न काज कछ
मन कौ जहाज डगि डूबन लगत है ॥२२

सील-सनी सुरुचि सु-बात चलैं पूरब की
औरै ओप उमगी दृगनि मिदुराने तैं।
कहै रतनाकर अचानक चमक उठी
उर घनस्याम कैं अधीर अकुलाने तैं ॥२३

आसाछन्न दुरदिन दीस्यौ सुरपुर माहिं
ब्रज में सुदिन बारि-बूंद हरियाने तैं।
नीर कौ प्रबाह कान्ह-नैननि कैं तीर बह्यौ
धीर बह्यौ ऊधौ-उर-अचल रसाने तैं ॥२४

प्रेम-भरी कातरता कान्ह की प्रगट होत
ऊधव अवाइ रहे ज्ञान-ध्यान सरके।
कहै रतनाकर धरा कौ धीर धूरि भयौ
भूरि-भीति-भारनि फनिंद-फन करके ॥२५

सुर सुर-राज सुद्ध-स्वारथ-सुभाव-सने
संसय समाए धाए धाम बिधि हर के।
आई फिरि ओप ठाम-ठाम ब्रज-गामनि के
बिरहिनि बामनि के बाम अंग फरके ।।२६

हेत-खेत माँहि खोदि खाई सुद्ध स्वारथ की
प्रेम-तृन गोपि राख्यौ तापै गमनौ नहीं।
करिनी प्रतीति-काज करनी बनावट की
राखी ताहि हेरि हियैं हौंसनि सनौ नहीं ।।२७

घात मैं लगे हैं ये बिसासी ब्रजबासी सबै
इनके अनोखे छल-छंदनि छनौ नहीं।
बारनि कितेक तुम्हें बारन कितेक करैं
बारन-उबारन ह्वै बारन बनौ नहीं ।।२८

पांचौ तत्त्व माँहि एक सत्त्व ही की सत्ता सत्य
याही तत्त्व-ज्ञान कौ महत्त्व स्रुति गायौ है।
तुम तौ बिबेक रतनाकर कहौ क्यौं पुनि
भेद पंचभौतिक के रूप मैं रचायौ है ।।२९

गोपिनि मैं, आप मैं, बियोग औ संजोग हूं मैं
एकै भाव चाहिए सचोप ठहरायौ है।
आपु ही सौं आपुकौ मिलाप औ बिछोह कहा
मोह यह मिथ्या सुख-दुख सब ठायौ है ।।३०

दिपत दिवाकर कौं दीपक दिखावै कहा
तुमसन ज्ञान कहा जानि कहिबो करैं।
कहै रतनाकर पै लौकिक-लगाव मानि
मरम अलौकिक की थाह थहिबौ करैं ।।३१

असत असार या पसार मैं हमारी जान
जन भरमाए सदा ऐसैं रहिबौ करैं।
जागत औ पागत अनेक परपंचनि मैं
जैसैं सपने मैं अपने कौं लहिबौ करैं ॥३२

हा! हा! इन्हैं रोकन कौं टोक न लगावौ तुम
बिसद-बिबेक-ज्ञान-गौरव-दुलारे ह्वै।
प्रेम-रतनाकर कहत इमि ऊधव सौं
थहरि करेजौ थामि परम दुखारे ह्वै ॥३३

सीतल करत नैंकु हीतल हमारौ परि
बिषम-बियोग-ताप-समन पुचारे ह्वै।
गोपिनि के नैन-नीर ध्यान-नलिका ह्वै धाइ
दृगनि हमारैं आइ छूटत फुहारे ह्वै ॥३४

प्रेम-नेम निफल निवारि उर-अंतर तैं
ब्रह्म-ज्ञान आनंद-निधान भरि लैहैं हम।
कहै रतनाकर सुधाकर-मुखीनि-ध्यान
आंसुनि सौं धोइ जोति जोइ जरि लैहैं हम ॥३५

आवो एक बार धारि गोकुल-गली की धूरि
तब इहि नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम।
मन सौं, करेजे सौं, स्रवन-सिर-आंखिनि सौं
ऊधव तिहारी सीख भीख करि लैहैं हम ॥३६

बात चलैं जिनकी उड़ात धीर धूरि भयौ
ऊधौ मंत्र फूंकन चले हैं तिन्हैं ज्ञानी ह्वै।
कहै रतनाकर गुपाल के हिये मैं उठी
हूक मूक भायनि की अकह कहानी ह्वै ॥३७

गहबर कंठ ह्वै न कढ़न संदेस पायौ
नैन-मग तौलौं आनि बैन अगवानी ह्वै।
प्राकृत प्रभाव सौं पलट मनमानी पाइ
पानी आज सकल संवार्‌यौ काज बानी ह्वै॥३८

ऊधव के चलत गुपाल उर मांहि चल-
आतुरी मची सो परै कहि न कबीनि सौं।
कहै रतनाकर हियौ हूं चलिबै कौं संग
लाख अभिलाष लै उमहि बिकलीनि सौं॥३९

आनि हिचकी ह्वै गरैं बीच सकस्यौई परै
स्वेद ह्वै रस्यौई परै रोम-झंझरीनि सौं।
आनन-दुवार तें उसांस ह्वै बढ़्यौई परै
आंस ह्वै कढ़यौई परै नैन-खिरकीनि सौं॥४०

—जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर'।

सूरदास के पद

राग बिलावल

नंद घरनि आनंदभरी सुत स्याम खेलावै।
कबहिं घुटुरुवनि चलहिंगे कहि विधिहिं मनावै॥
कबहिं दंतुली द्वै दूध की देखौं इन नैननि।
कबहिं कमलमुख बोलिहैं सुनिहौं उन बैननि॥
चूमति कर पग अधर पुनि लटकति लट चूमति
कहा बरनि 'सूरज' कहै कहां पावै सो मति॥१

राग बिलावल

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवन रेगै कब धरनी पग द्वैक धरै ।।
कब द्वै दंत दूध के देखौं कब तुतरे मुख बैन झरै।
कब नंदहि कहि बाबा बोलै कब जननी कहि मोहि ररै ।।
कब मेरो अंचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि मोसों झगरै।
कब धौं तनक तनक कछु खैहै अपने कर सों मुखहिं भरै।।
कब हंसि बात कहैगो मोसों छबि पेखत दुख दूरि टरै।
स्याम अकेले आंगन छांड़े आपु गई कछु काज घरै।।
एहि अंतर अंधबाइ उठी इक गरजत गगन सहित थहरै।
'सूरदास' ब्रज लोग सुनत धुनि जो जहं तहं सब अतिहि डरै।।२

राग धनाश्री

हरि किलकत जसुदा की कनियां।
निरखि निरखि मुख हंसति स्याम को मो निधनी के धनियां।।
अति कोमल तनु स्याम को बार बार पछितात।
कैसे बच्यो जाउं बलि तेरी तृनावर्त के घात।।
ना जानौ धौं कौन पुन्य तें कों करि लेत सहाइ।
वैसो काम पूतना कीनो इहि ऐसो कर॒यो आई।।
माता दुखित जानि हरि बिहंसे नान्हीं दंतुरि दिखाई।
'सूरदास' प्रभु माता चित तें दुख डार॒यो बिसराई।।३

राग धनाश्री

कहां लौं बरनौ सुन्दरताई।
खेलत कुंवर कनक आंगन में नैन निरखि छबि छाई।।
कुलहि लसत सिर स्याम सुभग अति बहुबिधि सुरंग बनाई।
मानो नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई।।

अति सुदेस मृदु चिकुर हरत मन मोहन मुख बगराई।
मानो प्रगट कंज पर मंजुल अलि अवली फिरि आई।।
नील सेत पर पीत लालमनि लटकन भाल लुनाई।
सनि गुरु-असुर देवगुरु मिलि मनौ भौम सहित समुदाई।।
दूध दंत दुति कहि न जाति अति अदभुत एक उपमाई।
किलकत हंसत दुरत प्रगटत मनौ घन में बिज्जु छपाई।।
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप जलप जलपाई।
घुटुरुन चलत रेनु तनु मंडित 'सूरदास' बलिजाई।।४

राग बिलावल

सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धर पैया।।
कबहुंक सुंदर बदन बिलोकति उर आनंद भरि लेति बलैया।
कबहुंक बलको टेरि बुलावति इहि आंगन खेलौ दोउ भैया।।
कबहुंक कुल देवता मनावति चिरजीवै मेरो बाल कन्हैया।
'सूरदास' प्रभु सब सुखदायक अति प्रताप बालक नंदरैया।।५

राग बिलावल

बाल गोपाल खेलौ मेरे तात।
बलि बलि जाउं मुखारबिंद की अमी बचन बोलत तुतरात।।
उनिंदे नयन बिसाल की सोभा कहत न बनि आवै कछु बात।
दूरि खरे सब सखा बोलावत नयन मोरि उठि आए प्रभात।।
दुहुं कर माठ गहे नंदनंदन छिटकि बूंद दधि परत अघात।
मानहु गजमुकता मरकत पर सोभित सुभग सांवरे गात।।
जननी प्रति मांगत मन मोहन दै माखन रोटी उठि प्रात।
लोटत पुहुमि 'सूर' सुंदर घन चारि पदारथ जाके हात।।६

राग बिलावल

सखि री नंदनंदन देखु।
धूरि धूसरि जटा जूटनि हरि किए हर भेषु॥
नीलपाट पिरोइ मनिगन फनिस धोखो जाइ।
खुनखुना कर हंसत मोहन नचत डौंरु बजाइ॥
जलजमाल गोपाल पहिरे कहौं कहा बनाइ।
मुंडमाला मनोहर गर ऐसि सोभा पाइ॥
स्वातिसुत माला बिराजत स्यामतन यों भाइ।
मनो गंगा गौरि डर हर लिए कंठ लगाइ॥
केहरी के नखहिं निरखत रही नारि बिचारि।
बाल ससि मनौ भालते लै उर धर्‍यो त्रिपुरारि॥
देखि अंग अनंग डरप्यो नंदसुत को जान।
सूर के हियरे बसो यह स्याम सिव को ध्यान॥७

राग धनाश्री

कजरी को पय पियहु लला तेरी चोटी बढ़े।
सब लरिकन में सुनु सुन्दर सुत तो श्री अधिक चढ़ै॥
जैसे देखि और ब्रज बालक त्यौं बल बयस बढ़ै।
कंस केसि बक बैरिन के उर अनुदिन अनल उढ़ै॥
यह सुनि कै हरि पीवन लागे, ज्यौं त्यौं लियो पढ़ै।
अंचवत पै तातो जब लाग्यो रोवत जीभ गढ़ै॥
पुनि, पीवत ही कच टकटोवै झूठै जननि रढ़ै।
'सूर' निरखि मुख हंसत जसोदा सो सुख मुख न कढ़ै॥८

राग रामकली

मैया कबहिँ बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूं है छोटी॥

तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी।
काढ़त गुहत न्हवावत ओंछत नागिनि सी भुंइ लोटी॥
काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी।
'सूर' स्याम चिरजिव दोउ भैया हरि हलधर की जोटी॥९

राग देवगान्धार

कहन लागे मोहन मैया मैया।
पिता नंद सों बाबा अरु हलधर सों भैया भैया॥
ऊंचे चढ़ि चढ़ि कहत जसोदा लै लै नाम कन्हैया।
दूरि कहूं जिनि जाहु लला रे मारैगी काहु की गैया॥
गोपी ग्वाल करत कौतूहल घर घर लेत बलैया।
मनि खंभन प्रतिबिंब बिलोकत नचत कुंवर निज पैया॥
नंद जसोदाजी के उर तें इह छबि अनत न जैया।
'सूरदास' प्रभु तुमरे दरस की चरनन की बलिगइयां॥१०

राग कान्हरो

ठाढ़ी अजिर जसोदा अपने हरिहि लिये चंदा देखरावत।
रोवत कत बलि जाउं तुम्हारी देखौं धौं भरि नैन जुड़ावत॥
चितै रहे तब आपुन ससि तन अपने कर लै लै जु बतावत।
मीठी लगत किधौं यह खाटो देखत अति सुंदर मन भावत॥११

राग बिलावल

जागिये ब्रजराज कुंवर कमल कुसुम फूले।
कुमुद वृन्द सकुचित भए भृंग लता मूले॥
तमचुर खग रोर सुनहु बोलत बनराई।
रांभति गो खरिकन में बछरा हित धाई॥
बिधु मलीन रबिप्रकास गावत नर-नारी।
'सूर' स्याम प्रात उठौ अंबुज कर धारी॥१२

राग गौरी

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीनो तोहि जसुमति कब जायो॥
कहा कहौं एहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जातु।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुमरो तातु॥
गोरे नंद जसोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दैदै हंसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर॥
तू मोही को मारन सीखी दाउहिं कबहुं न खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति सुनि सुनि रीझै।
सुनहु कान्ह बलभद्र चवाई जनमत ही को धूत।
'सूर' स्याम मोहि गोधन की सौं हौं माता तू पूत॥१३

राग गौरी

खेलन अब मेरी जात बलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरिकन संग तबहिं खिझत बल भैया॥
मोसों कहत पूत बसुदेव को देवकी तेरी मैया।
मोल लियो कछु दै बसुदेव को करि करि जतन बढ़ैया॥
अब बाबा कहि कहत नंद सौं जसुमति को कहै मैया।
ऐसे कहि सब मोहिं खिझावत तब उठि चलौं खिसैया॥
पाछे नंद सुनत हैं ठाढ़े हंसत हंसत उर लैया।
'सूर' नंद बलरामहिं धिरयो सुनि मन हरष कन्हैया॥१४

राग सारंग

जेंवत स्याम नंद की कनियां।
कछुक खात कछु धरनि गिरावत छबि निरखत नंदरनियां॥
बरी बरा बेसन बहु भांतिन व्यंजन बहु अनगनियां
डारत खात लेत अपने कर रुचि मानत दधि-दनियां।

मिसिरी दधि माखन मिस्रित करि मुख नावत्र छबिधनियां
आपुन खात नंद-मुख नावत सो सुख कहत न बनियां ।।
जो रस नंद जसोदा बिलसत सो नहिं तिहूं भुवनियां।
भोजन करि नंद अंचवन कीन्हो मांगत 'सूर' जुठनियां ।।१५

राग रामकली

मो देखत जसुमति तेरो ढोटा अबहीं माटी खाई।
इह सुनि कै रिस करि उठि धाई बांह पकरि लै आई ।।
इक कर सों भुज गहि गाढ़े करि इक कर लीने सांटी।
मारति हौं तोहि अबहिं कन्हैया बेगि न उगलै माटी ।।
ब्रज लरिका सब तेरे आगे झूंठी कहत बनाई।
मेरे कहे नहीं तू मानति दिखरावौं मुख बाई ।।
अखिल ब्रह्मांडखंड की महिमा देखराई मुख माहीं।
सिंधु सुमेरु नदी बन परबत चकित भई मनमाहीं ।।
कर ते सांटि गिरत नहिं जानी भुजा छांड़ि अकुलानी।
'सूर' कहै जसुमति मुख मूंदेउ बलि गइ सारंग-पानी ।।१६

राग मलार

महरि तैं बड़ी कृपिन है माई।
दूध दही बिधि को है दीनो सुत डर धरति छिपाई।
बालक बहुत नाहिं री तेरे एकै कुंवर कन्हाई।
सोऊ तौ घर ही घर डोलत माखन खात चुराई ।।
बृद्ध बैस पूरे पुन्यनि तें तैं बहुतैं निधि पाई।
ताहू को खैबे पियबे को कहा करति चतुराई ।।
सुनहु न बचन चतुर नागरि के जसुमति नंद सुनाई।
'सूर' स्याम को चोरी के मिस है देखैन को आई ।।१७

राग नट

अनत सुत गोरस को कत जात।
घर सुरभी नव लाख दुधारी और गनी नहिं जात ॥
नित प्रति सबै उरहने के मिस आवति हैं उठि प्रात।
अन-समुझे अपराध लगावति बिकट बनावति बात ॥
अतिहि निसंक बिबादति सनमुख सुनि मोहि नंद रिसात।
मो सों कृपिन कहत तेरे गृह ढोटाऊ न अघात ॥
करि मनुहारि उठाय गोद लै सुत को बरजति मात।
'सूर' स्याम नित सुनत उरहनो दुख पावत तेरो तात ॥१८

राग रामकली

मैया! मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो ॥
देखि तुही छींके पर भाजन ऊंचे घर लटकायो।
तुही निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायो ॥
मुख दधि पोछि कहत नंदनंदन दोना पीठि दुरायो।
डारि सांट मुसकाइ तबहिं गहि सुत को कंठ लगायो ॥
बाल बिनोद मोद मन मोह्यो भगति प्रताप देखायो।
'सूरदास' प्रभु जसुमति के सुख सिव बिरंचि बौरायो ॥१९

राग विहागरो

देखौ माई कान्ह हिचकियन रोवै।
तनक मुखहिं माखन लपटान्यो डरनि ते अंसुवन धोवै ॥
माखन लागि उलूखल बांध्यो सकल लोग ब्रज जोवै।
निरखि कुरुख उन बालनि की दिसि लाजन अंखियन धोवै ॥
ग्वाल कहैं धनि जननि हमारी स्वकर सुरभि नित नोवै।
बरबस ही बैठारि गोद में धारैं बदन निचोवै ॥

ग्वालि कहैं या गोरस कारन कत सुत की पति खोवै।
आनि देहिं हम अपने घर तें चाहति जितकु जसोवै॥
जब जब बंधन छोर्‍यो चाहति 'सूर' कहै यह को वै।
मन माधव तन, चित गोरस में इहि बिधि महरि विलोवै॥२०

राग कान्हरो

मैं दुहिहौं मोहिं दुहन सिखावहु।
कैसे धार दूध की बाजत सोइ सोइ बिधि तुम मोहिं बतावहु॥
कैसे दुहत दोहनी घुटुवन कैसे बछरा थनहि लगावहु।
कैसे लै नाई पग बांधत कैसे पगैया लै अटकावहु॥
निकट भई अब सांझ कन्हैया गाइन पै कहुं चोट लगावहु।
'सूर' स्याम सों कहत ग्वाल सब धेनु दुहन प्रातहि उठि आवहु॥२१

भैरवी

मैया, मैं न चरैहौं गाई।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसों, मेरे पाइं पिराई॥
जो न पत्याहि पूछ बलदाउहिं, अपनी सौंहं दिवाई।
यह सुनि सुनि जसुमति ग्वालनि को, गारी देत रिसाई।
मैं पठवति अपने लरिका कों, आवै मन बहराई।
'सूर' स्याम मेरो अति बालक, मारत ताहि रिंगाई॥२२

सोहिनी

बहुत दिन जीयौ पपिहरा प्यारो।
वासर रैनि नांव लै बोलत, भयो बिरह-ज्वर कारो॥
आपु दुखित पर दुखित जानि जिय, चातक नांव तुम्हारो।
देखो सकल बिचारि सखी जिय, बिछुरन कौ दुख न्यारो।
जाहि लगै सोई पै जानै, प्रेम-बान अनियारो।
'सूरदास' प्रभु स्वातिबूंद लगि, तज्यो सिंधु करि खारो॥२३

—सूरदास

अयोध्याकाण्ड

कीर के कागर ज्यों नृपचीर बिभूषन, उप्पम अंगनि पाई।
औध तज्यौ मगबास के रूख ज्यों, पंथ के साथी ज्योंलोग-लुगाई।
संग सुबंधु, पुनीत प्रिया मनो धर्म क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई ॥१॥

कागर-कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई।
मातु-पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाय सनेह सगाई।
संग सुभामिनि भाई भलो, दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई ॥२॥

सिथिल सनेह कहै कौसिला सुमित्राजू सों,
मैं न लखी सौति, सखी! भगिनी ज्यौं सेई है।
कहैं मोहिं मैया, कहौं, "मैं न मैया ; भरत की ;
बलैया लैहौं, भैया! मैया तेरी कैकेयी है"।
'तुलसी' सरल भाय रघुराय माय मानी,
काय मन बानी हूं न जानी कै मतेई है।
बाम बिधि मेरो सुख सिरिससुमन सम,
ताको छल-छुरी काह-कुलिस लै टेई है ॥३॥

"कीजै कहा, जीजी जू!" सुमित्रा परि पायं कहै,
"तुलसी सहावै बिधि सोई सहियतु है।
रावरो सुभाव राम जन्म ही तें जानियत,
भरत की मातु को कि ऐसो चहियतु है?
जाई राजघर, ब्याहि आई राजघर माहं,
राज-पूत पाए हूं न सुख लहियतु है।
देह सुधागेह ताहि मृगहू मलीन कियो,
ताहू पर बाहु बिनु राहु गहियतु है" ॥४॥

नाम अजामिल से खलकोटि अपार नदी भव बूड़त काढ़े।
जो सुमिरे गिरि-मेरु सिला-कन होत अजाखुर बारिधि बाढ़े॥
तुलसी जेहि के पद-पंकज तें प्रगटी तटिनी जो हरै अघ गाढ़े।
सो प्रभु स्वै सरिता तरिबे कहं मांगत नाव करारे ह्वै ठाढ़े॥५॥

एहि घाट तें थोरिक दूरि अहै कटि लौं जल-थाह दिखाइहौं जू।
परसे पगधूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समझाइहौं जू?
तुलसी अवलंब न और कछू, लरिका केहि भांति जिआइहौं जू?
बरु मारिए मोहिं, बिना पग धोए, हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू॥६॥

रावरे दोष न पायंन को, पगधूरि को भूरि प्रभाव महा है।
पाहन तें बन-बाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है॥
पावन पायं पखारि कै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है?
तुलसी सुनि केवट के बर बैन हंसे प्रभु जानकी ओर हहा है॥७॥

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे बारे,
केवट की जात कछु बेद ना पढ़ाइहौं।
सब परिवार मेरो याही लगि, राजा जू,
हौं दीन बित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं?
गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरैगी मेरी,
प्रभु सों निषाद ह्वैके बाद ना बढ़ाइहौं।
'तुलसी' के ईस राम रावरी सौं, सांची कहौं,
बिना पग धोए नाथ नाव ना चढ़ाइहौं॥८॥

जिनको पुनीत बारि, धारे सिर पै पुरारि,
त्रिपथगामिनि-जसु बेद कहै गाइ कै।
जिनको जोगीन्द्र मुनिवृन्द देव देह धरि,
करत बिराग जप जोग मन लाइ कै॥

'तुलसी' जिनकी धूरि परसि अहल्या तरी,
गौतम सिधारे गृह गौनो सो लिवाइ कै।
तेई पायं पाइकै चढ़ाइ नाव धोए बिनु,
ख्वैहों न पठावनीको ह्वै हों न हंसाइ कै ? ॥९॥

प्रभुरुख पाइ कै बोलाइ बाल, घरनिहि,
बंदि कै चरन चहुं दिसि बैठे घेरि घेरि।
छोटो सो कठौता भरि आनि पानीं गंगाजू को,
धोइ पायं पीयत पुनीत बारि फेरि फेरि॥
तुलसी सराहैं ताको भाग सानुराग सुर,
बरषैं सुमन जय जय कहैं टेरि टेरि।
बिबुध-सनेह-सानी बानी असयानी सुनी,
हंसे राघौ जानकी लषन तन हेरि हेरि॥१०॥

पुर तें निकसीं रघुबीर बधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूख गए मधुराधर वै॥
फिरि बूझति हैं "चलनो अब केतिक,
पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै ?"
तियकीलखि आतुरतापियकी अंखियां
अति चारु चलीं जलच्वै॥११॥

जल को गए लक्खन हैं लरिका,
परिखौ पिय, छांह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु
पांय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े॥
'तुलसी' रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै
बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यौ,
पुलको तनु बारि बिलोचन बाढ़े॥१२॥

ठाढ़े हैं नौ द्रुम डार गहे, धनु कांधे धरे, कर सायक लै।
बिकटी भ्रुकुटी बडरी अंखियां, अनमोल कपोलन की छबि है॥
'तुलसी' अस मूरति आनि हिये
जड़ डारिहौं प्रान निछावरि कै।
स्रम-सीकर सांवरि देह लसै
मनो रासि महा तम तारक मै॥१३॥

जलज-नयन, जलजानन, जटा है सिर
जोबन उमंग अंग उदित उदार हैं।
सांवरे गोरे के बीच भामिनी सुदामिनी सी,
मुनिपट धरे, उर फूलनि के हार हैं॥
करनि सरासन सिलीमुख, निषंग कटि,
अतिही अनूप काहू भूप के कुमार हैं।
'तुलसी' बिलोकि कै तिलोक के तिलक तीनि,
रहे नरनारि ज्यों चितेरे चित्रसार हैं॥१४॥

आगे सोहै सांवरो कुंवर, गोरो पाछे पाछे,
आछे मुनि वेष धरे लाजत अनंग हैं।
बान बिसिषासन ; बसन बन ही के कटि,
कसे हैं बनाई, नीके राजत निषंग हैं।
साथ निसिनाथमुखी पाथनाथ-नन्दिनी सी,
'तुलसी' बिलोके चित लाइ लेत संग हैं।
आनन्द उमंग मन, जोबन उमंग तन,
रूप की उमंग उमगत अंग अंग हैं॥१५॥

सुन्दर बदन, सरसीरुह सुहाए नैन,
मंजुल प्रसून माथे मुकुट जटनिके।
अंसनि सरासन लसत, सुचि कर सर,
तून कटि, मुनिपट लटक पटनि के॥

नारि सुकुमारि संग, जाके अंग उबटि कै,
बिधि बिरचे बरूथ विद्युत छटनि के।
गोरे को बरन देखे सोनो न सलोनो लागै,
सांवरे बिलोके गर्व घटत घटनि के ॥१६॥

बल्कल बसन, धनुबान पानि, तून कटि,
रूप के निधान, घन-दामिनी-बरन हैं।
'तुलसी' सुतीय संग सहज सुहाए अंग,
नवल कंवल हू ते कोमल चरन हैं॥
औरै सो बसन्त, और रति, औरै रतिपति,
मूरति विलोके तन-मन के हरन हैं।
तापस बेषै बनाइ, पथिक पथै सुहाइ,
चले लोक-लोचननि सुफल करन हैं ॥१७॥

बनिता बनि स्यामलगौर के बीच,
बिलोकहु, री सखी! मोहिं सी ह्वै।
मग जोग न, कोमल क्यों चलिहैं?
सकुचात मही पद-पंकज छ्वै॥
'तुलसी' सुनि ग्रामबधू बिथकीं, पुलकीं तन औ चले लोचन च्वै।
सब भांति मनोहर मोहन रूप, अनप हैं भूप के बालक द्वै ॥१८॥

सांवरे गोरे सलोने सुभाय, मनोहरता जिति मैन लियो है।
बान कमान निषंग कसे, सिर सोहैं जटा, मुनि वेष कियो है॥
संग लिये विधु बैनी बधू, रति को जेहि रंचक रूप दियो है।
पांयन तौ पनही न, पयादेहि
क्यों चलि हैं? सकुचात हियो है ॥१९॥

रानी मैं जानी अजानी महा, पवि पाहन हू ते कठोर हियो है ।
राजहु काज अकाज न जान्यो, कह्यो तिय को जिन कान कियो है ।
ऐसी मनोहर मूरति ये, बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है ?
आंखिनमें, सखि ! राखिबे जोग, इन्हे किमि कै बनबास दियो है ।।२०।।

सीस जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछीसी भौंहें ।
तून सरासन बान धरे, 'तुलसी' बन मारग में सुठि सोहें ।।
सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहें ।
पूछति ग्रामबधू सियसों "कहौ सांवरे से, सखि रावरे को हें ?" ।।२१।।

सुनि सुन्दर बैन सुधारस-साने, सयानी हें जानकी जानी भली ।
तिरछे करि नैन, दै सैन तिन्हें समुझाइ कछू मुसुकाइ चली ।।
'तुलसी' तेहि औसर सोहें सबै अवलोकति लोचन लाहु अली ।
अनुराग-तड़ाग में भानु उदै बिगसीं मनो मंजुल कंज-कली ।।२२।।

धरि धीर कहैं "चलु देखिय जाइ जहां सजनी रजनी रहि हैं ।
कहि है जग पोच, न सोच कछु, फल लोचन आपन तौ लहि हें ।।
सुख पाइहैं कान सुने बतियां, कल आपुस में कछु पै कहि हैं ।
'तुलसी' अति प्रेम लगीं पलकैं, पुलकीं लखि राम हिये महिहैं ।।२३।।

पद कोमल, स्यामल गौर कलेवर, राजत कोटि मनोज लजाए ।
कर बान सरासन, सीस जटा, सरसीरुह लोचन सो न सुहाए ।।
जिन देखे, सखी ! सतभायहु तें 'तुलसी' तिनतौ मन फेरि न पाए ।
यहि मारग आजु किसोरबधू बिधु-बैनीसमेत सुभाय सिधाए ।।२४।।

मुख पंकज, कंज बिलोचन मंजु, मनोज-सरासन सी बनी भौंहें ।
कमनीय कलेवर, कोमल, स्यामल गौर किसोर, जटा सिर सोहें ।।
'तुलसी' कटि तून, धरे धनु बान, अचानक दीठि परी तिरछौंहें ।
केहिभांतिकहौं, सजनी ! तोहिसों, मृदुमूरतिद्वैनिवसीं मनमोहे ।।२५।।

प्रेम सों पीछे तिरीछे प्रियाहि चितै चितु दै, चले लै चित चोरे।
स्याम सरीर पसेउ लसै हुलसै 'तुलसी' छबि सो मन मोरे।
लोचन लोल चलें भ्रूकुटी, कल काम-कमानहु सो तृन तोरे।
राजत राम कुरंग के संग, निषंग कसे, धनु सों सर जोरे॥२६॥

सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि, पानि सरासन सायक लै।
बन खेलत राम फिरें मृगया, 'तुलसी' छबि सो वरनै किमि कै?
अबलोकि अलौकिक रूप मृगीमृग चौंकि चकें चितवें चित दै।
न डगें न भगें जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रतिनायक है॥२७॥

—तुलसीदास॥

रहीम-रत्नावली

एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।
रहिमन मूलहिं सींचिबो, फूलहि फलहि अघाय॥१
ओछो काम बड़े करें, तो न बड़ाई होय।
ज्यों रहीम हनुमन्त कों, गिरधर कहै न कोय॥२
कदली, सीप, भुजंग-मुख, स्वांति एक गुण तीन।
जैसी संगति बैठिए, तैसोई फल दीन॥३
कहि रहीम धन बढ़ि घटे, जात धनिन की बात।
घटै बढ़ै उनको कहा, घास बेचि जे खात॥४
कहि रहीम या जगत से, प्रीति गई दै टेरि।
रहि रहीम नर नीच में, स्वारथ स्वारथ हेरि॥५
कहि रहीम संपति सगे, बनत बहुत बहु रीत।
बिपति-कसौटी जे कसे, सोई सांचे मीत॥६
कहु रहीम केतिक रही, केतिक गई बिहाय।
माया ममता मोह परि, अंत चले पछिताय॥७

काज परे कछु और है, काज सरे कछु और।
रहिमन भंवरी के भए, नदी सिरावत मौर ॥८

कौन बड़ाई जलधि मिलि, गंग नाम भो धीम।
केहि की प्रभुता नहिं घटी, पर घर गए रहीम ॥९

खीरा सिर तें काटिए, भरिए नमक बनाय।
रहिमन करुए मुखन को, चहिअत इहै सजाय ॥१०

खैर, खून, खांसी, खुसी, बैर, प्रीति, मदपान।
रहिमन दाबे ना दबैं, जानत सकल जहान ॥११

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चंदन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग ॥१२

जो रहीम ओछो बढ़ै, तौ अति ही इतराय।
प्यादे सो फरजी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाय ॥१३

जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजिआरो लगै, बढ़े अंधेरो होय ॥१४

जो रहीम गति दीप की, सुत सपूत की सोय।
बढ़े उजेरो तेहि रहे, गए अंधेरो होय ॥१५

जो रहीम मन हाथ है, तौ तन कहुं किन जाहि।
जल में जो छाया परे, काया भीजति नाहिं ॥१६

टूटे सुजन मनाइए, जौ टूटे सौ बार।
रहिमन फिरि फिरि पोइए, टूटे मुक्ताहार ॥१७

तबहीं लौं जीबो भलो, दीबो होय न धीम।
जग में रहिबो कुचित गति, उचित न होय रहीम ॥१८

तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहि न पान।
कहि रहीम पर काज हित, संपति संचहि सुजान ॥१९

देनहार कोउ और है भेजत सो दिन रैन।
लोग भरम हम पै धरैं, याते नीचे नैन ॥२०

धूर धरत नित सीस पै, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि-पत्नी तरी, सो ढूंढ़त गजराज ॥२१

रहिमन अंसुवा नयन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारौ गेहते, कस न भेद कहि देइ॥२२
रहिमन ओछे नरन सों, बैर भलो ना प्रीति।
काटे चाटे स्वान के, दोऊ भांति विपरीति॥२३
रहिमन कठिन चितान ते, चिन्ता को चित चेत।
चिता दहति निर्जीव को, चिन्ता जीव समेत॥२४
रहिमन चुप ह्वै बैठिए, देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगिहै बेर॥२५
रहिमन निज सम्पति बिना कोउ न विपति सहाय।
बिनु पानी ज्यों जलज को, नहिं रवि सकै बचाय॥२६
रहिमन पानी राखिए, बिनु पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरै, मोती, मानुस, चून॥२७
रहिमन जाचकता गहे, बड़े छोट ह्वै जात।
नारायनहू को भयो, बावन आंगुर गात॥२८
रहिमन रहिबो वा भलो, जौ लौं सील समूच।
सील ढील जब देखिए, तुरत कीजिए कूच॥२९

—अब्दुल रहीम ख़ान ख़ाना

रसखान

मानुस हौं, तो वही रसखानि,
बसौं ब्रज-गोकुल गांव के ग्वारन।
जो पसु हौं, तौ कहा बसु मेरो,
चरौं नित नन्द की धेनु मंझारन॥
पाहन हौं, तौ वही गिरि कौ,
जो धरयौ कर छत्र पुरंदर-धारन।
जो खग हौं, तौ बसेरो करौं,
मिलि कालिंदीकूलकदम्ब की डारन॥१॥

या लकुटी अरु कामरिया पर,
राज तिहूं पुर को तजि डारौं।
आठहुं सिद्धि नवोनिधि को सुख,
नन्द की गाइ चराइ बिसारौं॥
इन आंखिन सों रसखानि कबौं
ब्रज के बन-बाग-तड़ाग निहारौं।
कोटिक हौं कलधौत के धाम,
करील की कुंजन ऊपर वारौं॥२॥
मोर-पखा सिर ऊपर राखिहौं,
गुंज की माल गरे पहिरौं गी।
ओढ़ि पितम्बर, लै लकुटी बन,
गोधन ग्वारनि संग फिरौंगी॥
भावतो वोहि मेरो रसखानि, सो
तेरे कहे सब स्वांग भरौंगी।
या मुरली मुरलीधर की
अधरान-धरी अधरा न धरौंगी॥३॥
गावैं गुनी गनिका गंधर्व, औ
सारद सेस सबै गुन गावैं।
नाम अनंत गनंत गनेस ज्यौं,
ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावैं॥
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध,
निरन्तर जाहि समाधि लगावैं।
ताहि अहीर की छोहरियां,
छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥४॥
सेस महेस गनेस दिनेस,
सुरेसहुं जाहिं निरन्तर गावैं।
जाहिं अनादि अनंत अखंड,
अछेद अभेद सुबेद बतावैं॥

नारद-से सुक ब्यास रटैं,
पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियां,
छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥५॥

कौन ठगौरी भरी हरि आजु,
बजाई है बांसुरिया रंग भीनी।
तान सुनी जिनहीं तिनहीं तब हीं,
कुल-लाज बिदा करि दीनी॥
घूमै घरी-घरी नन्द के द्वार,
नवीनी कहा कहूं बाल प्रबीनी।
या ब्रजमंडल में रसखानि,
सु कौन भटू, जो लटू नहिं कीनी॥६॥

धूरि-भरे अति सोभित स्यामजू,
तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत-खात फिरैं अंगना, पग
पैंजनीं बाजतीं, पीरी कछोटी॥
वा छबि कों रसखानि बिलोकत,
वारत काम-कलानिधि कोटी।
काग के भाग कहा कहिए, हरि-
हाथ सों लै गयोमाखन-रोटी॥७॥

सोहत हैं चंदवा सिर मौर के,
जैसियै सुंदर पाग कसी है।
तैसियै गोरज भाल बिराजति,
जैसी हियें बनमाल लसी है॥
रसखानि बिलोकति बौरी भई,
दृग मूंदिकै ग्वारि पुकारि हंसी है।
खोलि री घूंघट, खोलौं कहा,
वह मूरति नैननि मांझ बसी है॥८॥

ब्रह्म में ढूंढ़्यौं पुरानन गानन,
बेद-रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यौं सुन्यौं कबहूं न कितू,
वह कैसे सुरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत-हेरत हारि पर्‍यौ रसखानि,
बतायो न लोग-लुगायन।
देख्यौ, दुर्‍यौ वह कुंज-कुटीर में,
बैठो पलोटतु राधिका-पायन॥९॥

दानी भये नये मांगत दान,
सुनै जु पै कंस तौ बांधिकै जैहौ।
रोकत हौ बन में रसखानि,
पसारत हाथ, घनौ दुख पैहौ॥
टूटे छरा बछरा अरु गोधन,
जो धन है सु सबै धरि दैहौ।
जहै अभूषन काहू सखी कौ,
तो मोल छला के, लला न बिकैहौ॥१०॥

द्रौपदी औ गनिका गज गीध,
अजामिल सों कियो सो न निहारौ।
गौतम-गेहिनी कैसे तरी,
प्रहलाद कौ कैसे हर्‍यो दुख भारौ॥
काहे कों सोच करै रसखानि,
कहा करिहै रविनंद बिचारौ।
कौन की संक परी है जु माखन—
चाखनहारो है राखनहारो॥११॥

—रसखान

———

बिहारी के दोहे

मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झांईं परे स्याम हरित दुति होय ॥१॥
सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल ॥२॥
मोहनि मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोय।
बसति सुचित अन्तर तऊ प्रतिबिंबित जग होय ॥३॥
तजि तीरथ हरि-राधिका तन-दुति करि अनुराग।
जिहिं ब्रज केलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग ॥४॥
सघन कुंज छाया सुखद सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर ॥५॥
गिरि ते ऊंचे रसिक मन बूड़े जहां हजार।
वहै सदा पसु नरन कहं प्रेम पयोधि पगार ॥६॥
कबौं न ओछे नरन सों सरत बड़ेन को काम।
मढ़ो दमामो जात कहुं कहि चूहे के चाम ॥७॥
बसै बुराई जासु तन ताही को सनमान।
भलो भलो कहि छोड़िये खोटे ग्रह जप दान ॥८॥
कहैं इहै सब श्रुति सुमृति इहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक ही पातक, राजा, रोग ॥९॥
बड़े न हूजै गुनन बिनु बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सों कनक गहनो गढ़ो न जाय ॥१०॥
गुनी गुनी सब कोउ कहै निगुनी गुनी न होत।
सुन्यो कहूं तरु अर्क ते अर्क समान उदोत ॥११॥
संगति सुमति न पावहीं परे कुमति के धंध।
राखौ मेलि कपूर में हींग न होत सुगंध ॥१२॥
सबै हंसत करतारि दै नागरता के नांव।
गयो गरब गुन को सबै बसे गंवारे गांव ॥१३॥

नर की अरु नलनीर की गति एकै करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलै तेतो ऊंचो होइ ॥१४॥

जो चाहौ चटक न घटै मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुवाइये नेह चीकने चित्त ॥१५॥

अति अगाध अति औथरे नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहां जाकी प्यास बुझाय ॥१६॥

कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है या पाये बौराय ॥१७॥

जिन दिन देखे वे सुमन गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की अपत कंटीली डार ॥१८॥

इहि आसा अटक्यो रहै अलि गुलाब के मूल।
ह्वैहैं बहुरि बसंत ऋतु इन डारन वे फूल ॥१९॥

अरे हंस या नगर में, जैयो आप बिचारि।
कागनि सों जिन प्रीति करि कोकिल दई बिड़ारि ॥२०॥

को कहि सकै बड़ेन सों लखे बड़ी हू भूल।
दीने दई गुलाब कों इन डारन ये फूल ॥२१॥

कर लै सूंघि सराहि कै रहैं सबै गहि मौन।
गंधी गंध गुलाब को गंवई गाहक कौन ॥२२॥

को छूट्यो यहि जाल परि कत कुरंग अकुलात।
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत त्यों त्यों उरझत जात ॥२३॥

पटु पांखै, भखु कांकरै, सदा परेई संग।
सुखी परेवा पुहुमि मैं, एकै तुही बिहंग ॥२४॥

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देखु विहंग विचारि।
बाज पराये पानि परि तूं पंछीहि न मारि ॥२५॥

दिन दस आदर पायकै, करिलै आपु बखान।
जौलौं काग सराधपख तौलौं तो सनमान ॥२६॥

मरत प्यास पिंजरा परो सुवा दिननके फेर।
आदर दै दै बोलियत बायस बलिकी बेर ॥२७॥

—बिहारीलाल।

गंगा और यमुना

गंगा वर्णन

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूंद मध्य मुक्तामनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥१॥

सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सबके मन भावत।
दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत॥
श्रीहरि-पद-नख चन्द्रकान्त मनि द्रवित सुधारस।
ब्रह्म कमंडल मंडन भव खंडन सुर सरबस॥२॥

शिव सिर मालति माल भगीरथ नृपति पुन्य फल।
ऐरावत गज गिरिपति हिमनग कंठहार कल॥
सगर सुवन सठ सहस परस जलमात्र उधारन।
अगनित धारा रूप धारि सागर संचारन॥३॥

काशी कहं प्रिय जानि ललकि भेंटयो जग धाई।
सपनेहू नहिं तजी रही अंकम लपटाई॥
कहूं बंधे नवघाट उच्च गिरिवर सम सोहत।
कहुं छतरी कहुं मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत॥४॥

धवल धाम चहुं ओर फरहरत धुजा पताका।
घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका॥
मधुरी नौबत बजत कहूं नारी नर गावत।
वेद पढत कहुं द्विज कहुं जोगी ध्यान लगावत॥५॥

कहुं सुन्दरी नहात नीर कर जुगल उछारत।
जुग अंबुज मिलि मुक्त गुच्छ मनु सुच्छ निकारत॥
धोअत सुन्दरि बदन करन अति ही छबि पावत।
वारिधि नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत॥६॥

सुन्दरि ससि मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत।
कमलबेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत॥
दीठि जहां जहं जाति रहति तितही ठहराई।
गंगा छबि हरिचन्द कछू बरनी नहिं जाई॥७॥

यमुना वर्णन

तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सो जल-परसन हित मनहुं सुहाये॥
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप बारन तीर कों सिमिटि सबै छाये रहत।
कै हरि सेवा हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत॥१॥

कहूं तीर पर कमल अमल सोभित बहु भांतिन।
कहूं सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पांतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत व्रज सोभा।
कै उमगे पिय प्रिया प्रेम के अनगित गोभा॥
कै करि कै कर बहु पीय कों टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥२॥

कै पियपद उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृङ्गन मिस अस्तुति उच्चारत॥

कै व्रज तियगन बदन कमल की झलकत झाईं।
कै व्रज हरिपद-परस-हेत कमला बहु आईं ॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ, व्रजमण्डल बगरे फिरत।
कै जानि लच्छमी-भौन एहि करि सतधा निज जल धरत ॥३॥

तिन पैं जेहि छिन चन्द जोति राका-निसि आवति।
जल मैं मिलि कै नभ अवनी लौं तान तनावति ॥
होत मुकुरमय सबै तबै उज्ज्वल इक ओभा।
तन मन नैन जुड़ावत देखि सुंदर सो सोभा ॥
सो को कबि जो छबि कहि सकै ताछन जमुना नीर की।
मिलि अवनि और अम्बर रहत छबि इकसी नभ तीर की ॥४॥

परत चन्द-प्रतिबिम्ब कहूं जल मधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुं सोई मन भायो ॥
मनु हरि दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो।
कै तरङ्ग कर मुकुर लिये सोभित छबि छायो ॥
कै रास रमन मैं हरि मुकुट आभा जल दिखरात है।
कै जलउर हरि मूरति बसति ता-प्रतिबिंब लखात है ॥५॥

कबहुं होत सत चन्द कबहुं प्रगटत दुरि भाजत।
पवन गवन बस बिम्ब रूप जल मैं बहु साजत ॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुनजल लोटत डोलै।
कै तरङ्ग की डोर हिंडोरन करत कलोलै ॥
कै बाल गुडी नभ मैं उड़ी सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती ॥६॥

मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन जल।
कै तारागन ठगत लुकत प्रगटत ससि अविकल ॥
कै कालिन्दी नीर तरङ्ग जितो उपजावत।
तितनो ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत ॥

कै बहुत रजत चकई चलत कै फुहार जल उच्छरत।
कै निसिपति मल्ल अनेक बिधि उठि बैठत कसरत करत ॥७॥

कूजत कहुं कलहंस कहूं मज्जत पारावत।
कहुं कारंडव उड़त कहूं जलकुक्कुट धावत॥
चक्रवाक कहुं बसत कहूं बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहुं पियत कहूं भ्रमरावलि गावत॥
कहुं तट पर नाचत मोर बहु रोर विविध पच्छी करत।
जलपान न्हान करि सुख भरे तट सोभा सब निज धरत॥८॥

कहूं बालुका बिमल सकल कोमल बहु छाई।
उज्जल झलकत रजत सिढ़ी मनु सरस सुहाई॥
पिय के आगम हेत पांवड़े मनहुं बिछाये।
रत्नरासि करि चूर कूल मैं मनु बगराये॥
मनु मुक्त मांग सोभित भरी, श्यामनीर चिकुरन परसि।
सतगुन छायो कै तीर मैं, व्रज निवास लखि हिय हरसि॥८॥

—'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र

यशोदाविलाप

मेरे प्यारे स-कुशल सुखी और सानन्द तो हैं?
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती?
ऊधौ छाती बदन पर है म्लानता भी नहीं तो?
हो जाती हैं हृदयतल में तो नहीं वेदनायें? ॥१॥

मीठे-मेवे मृदुल नवनी और पक्वान्न नाना।
धीरे, प्यारों-सहित सुत को कौन होगी खिलाती।
प्रातः पीता सु-पय कजरी गाय का चाव से था।
हा! पाता है न अब उसको प्राण-प्यारा हमारा॥२॥

संकोची है परम अति ही धीर है लाल मेरा।
लज्जा होती अमित उसको मांगने में सदा थी।
जैसे लेके स-रुचि सुत को अंक में मैं खिलाती।
हा ! वैसे ही अब नित खिला कौन बामा सकेगी ।।३।।

मैं थी सारा-दिवस मुख को देखते ही बिताती।
हो जाती थी व्यथित उसको म्लान जो देखती थी।
हा ! वैसे ही अब बदन को देखती कौन होगी।
ऊधो माता-सदृश-ममता अन्य की है न होती ।।४।।

खाने पीने शयन करने आदि की एक-बेला।
जो जाती थी कुछ टल कभी खेद होता बड़ा था।
ऊधो ऐसी दुखित उसके हेतु क्यों अन्य होगी।
माता की सी अवनितल में है अ-माता न होती ।।५।।

जो पाती हूं कुंवर-मुख के जोग मैं भोग-प्यारा।
तो होती हैं हृदय-तल में वेदनायें-बड़ी ही।
जो कोई भी सु-फल सुत के योग्य मैं देखती हूं।
हो जाती हूं व्यथित-अति ही, दग्ध होती महा हूं ।।६।।

जो लाती थीं बिबिध-रंग के मुग्धकारी खिलौने।
वे आती हैं सदन अब भी कामना में पगी सी।
हा ! जाती हैं पलट जब वें हो निराशा-निमग्ना।
तो उन्मत्ता-सदृश मग की ओर मैं देखती हूं ।।७।।

आते-लीला निपुण-नट हैं आज भी बांध आशा।
कोई यों भी न अब उन के खेल को देखता है।
प्यारे होते मुदित जितने कौतुकों से सदा थे।
वे आंखों में बिषम-द्रव हैं दर्शकों के लगाने ।।८।।

प्यारा खाता रुचिर नवनी को बड़े चाव से था।
खाते खाते पुलक पड़ता नाचता कूदता था।
ये बातें हैं सरस नवनी देखते याद आतीं।
हो जाता है मधुरतर औ स्निग्ध भी दग्धकारी ॥९॥

हा ! जो वंशी सरस रव से विश्व को मोहती थी।
सो आले में मलिन बन औ मूक हो के पड़ी है।
जो छिद्रों से अमिय बरसा मूरि थी मुग्धता की।
सो उन्मत्ता परम-बिकला उन्मना है बनाती ॥१०॥

प्यारे ऊधो सुरत करता लाल मेरी कभी है ?
क्या होता है न अब उस को ध्यान बूढ़े-पिता का।
रो रो, हो हो बिकल अपने बार जो हैं बिताते।
हा ! वे सीधे सरल-शिशु हैं क्या नहीं याद आते ॥११॥

कैसे भूलीं सरस-खनि सी प्रीति की गोपिकायें।
कैसे भूले सुहृदपन के सेतु से गोपग्वाले।
शान्ता धीरा मधुर-हृदया प्रेम-रूपा रसज्ञा।
कैसे भूली प्रणय-प्रतिमा-राधिका मोहमग्ना ॥१२॥

कैसे बृन्दा बिपिन बिसरा क्यों लता-बेलि भूलीं।
कैसे जी से उतर सिगरी कुंज-पुंजें गई हैं।
कैसे फूले बिपुल-फल से नम्र भूजात भूले।
कैसे भूला बिकच-तरु सो कालिंदी-कूल वाला ॥१३॥

सोती सोती चिहुंक कर जो श्याम को है बुलाती।
ऊधो मेरी यह सदन की सारिका कान्त-कण्ठा।
पाला पोसा प्रति-दिन जिसे श्याम ने प्यार से है।
हा ! कैसे सो हृदय-तल से दूर यों हो गई है ॥१४॥

कुंजों कुंजों प्रतिदिन जिन्हें चाव से था चराया।
जो प्यारी थीं परम, ब्रज के लाड़िले को सदाही।
खिन्ना दीना-बिकल बन में आज जो घूमती हैं।
ऊधो कैसे हृदय-धन को हाय! वे धेनु भूलीं॥१५॥

ऐसा प्रायः अब तक मुझे नित्य ही है जनाता।
गो गोपों के सहित बन से सद्म है श्याम आता।
यों ही आके हृदय तल को बेधता मोह लेता।
मीठा-मीठा-मुरलि-रव है कान में गूंज जाता॥१६॥

रोते रोते तनिक लग जो आंख जाती कभी है।
तो योंही मैं युगल-दृग को चौंक के खोलती हूं।
प्रायः ऐसा प्रति-रजनि में ध्यान होता मुझे है।
जैसे आ के सुअन मुझको प्यार से है जगाता॥१७॥

ऐसा ऊधो प्रति-दिन कई बार है ज्ञात होता।
कोई यों है कथन करता लाल आया तुम्हारा।
भ्रांता सी मैं अब तक गई द्वार पै बार लाखों।
हा! आंखों से न वह बिछुड़ी-श्यामली-मूर्त्ति देखो॥१८॥

फूले-कंजों-सदृश-दृग से मोहते मानसों को।
प्यारे प्यारे बचन कहते खेलते मोद देते।
ऊधो ऐसी अनुमिति सदा हाय! होती मुझे है।
जैसे आता निकल अबही लाल है मंदिरों से॥१९॥

आ के मेरे निकट नवनी लालची लाल मेरा।
लीलायें था बिबिध करता धूम भी था मचाता।
ऊधो बातें न यक पल भी हाय! वे भूलती हैं।
हा! छा जाता युगल दृग में आज भी सो समा है॥२०॥

मैं हाथों मे कुटिल-अलकें लाल की थी बनाती।
पुष्पों को थी युगल-श्रुति के कुण्डलों में सजाती।
मुक्ताओं को शिर मुकुट में मुग्ध हो थी लगाती।
पीछे शोभा निरख मुख की थी न फूली समाती॥२१॥

मैं प्रायः ले कुसुमकलिका चाव से थी बनाती।
शोभा-वाले-विविध गजरे क्रीट औ कुण्डलों को।
पीछे प्यारों सहित इन को श्याम को थी पिन्हाती।
औ उत्फुल्ला ग्रथित-कलिका तुल्य थी पूर्ण होती॥२२॥

पैन्हे प्यारे-बसन कितने दिव्य-आभूषणों को।
प्यारी-बाणी विहंस-कहते पूर्ण-उत्फुल्ल होते।
शोभा-शाली-सुअन जब था क्रीड़ता सद्म मेरे।
तो पा जाती अमर-पुर की सर्व सम्पत्ति मैं थी॥२३॥

होता राका-शशि उदय था फूलता पद्म भी था।
प्यारी-धारा उमग बहती चारु-पीयूष की थी।
मेरा प्यारा तनय जब था गेह में नित्य ही तो।
वंशी-द्वारा मधुर-तर था स्वर्ग-संगीत होता॥२४॥

ऊधो मेरे दिवस अब वे हाय ! क्या हो गये हैं।
हा ! यों मेरे सुख-सदन को कौन क्यों है नसाता।
वैसे प्यारे-दिवस अब मैं क्या नहीं पा सकूंगी।
हा ! क्या मेरी न अब दुख की यामिनी दूर होगी॥२५॥

ऊधो मेरा हृदय-तल था एक उद्यान-न्यारा।
शोभा देतीं अमित उस में कल्पना-क्यारियां थीं।
प्यारे-प्यारे-कुसुम कितने भाव के थे अनेकों।
उत्साहों के बिपुल-बिटपी मुग्धकारी-महा थे॥२६॥

सच्चिन्ता की सरस-लहरी-संकुला-बापिका थी।
लोनी-लोनी नवल-लतिका थीं अनेकों-उमंगें।
धीरे-धीरे-मधुर हिलतीं बासना-बेलियां थीं।
सद्वांछा के बिहग उस के मंजु-भाषी बड़े थे ।।२७।।

प्यारा-प्यारा-मुख सुत-बधू-भाविनी का सलोना।
प्रायः होता प्रगट उस में फुल्ल-अंभोज सा था।
बेटे द्वारा बिबिध-सुख के लाभ की लालसायें।
हो जाती थीं बिकच बहुधा माधबी-पुष्पिता सी ।।२८।।

प्यारी-आशा-पवन जब थी डोलती स्निग्ध होके।
तो होती थी अनुपम-छटा बाग के पादपों की।
हो जाती थीं सकल लतिका-बेलियां शोभनीया।
सद्भावों के सुमन बनते सौरभीले-बड़े थे ।।२९।।

राका-स्वामी-सरस-सुख की दिव्य-न्यारी-कलायें।
धीरे धीरे पतित जब थीं स्निग्धता साथ होतीं।
तो आभा में अतुल-छबि में औ मनोहारिता में।
हो जाता था अधिक-तर सा नन्दनोद्यान से भी ।।३०।।

ऐसा प्यारा-सरस अति ही रम्य उद्यान मेरा।
मैं होती हूं व्यथित कहते आज है ध्वंस होता।
सूखे जाते सकल-तरु हैं नष्ट होती लता हैं।
निष्पुष्पा हो बिपुल-मलिना बेलियां हो रही हैं ।।३१।।

प्यारे-पौधे कुसुम-कुल के पुष्प ही हैं न लाते।
भूले जाते बिहग अपनी बोलियां हैं अनूठी।
हा! जावेगा बिनस अति ही मंजु-उद्यान मेरा।
जो सींचेगा न घन-तन आ स्नेह-सद्वारि-द्वारा ।।३२।।

ऊधो आदौ तिमिर-मय था भाग्य-आकाश मेरा।
धीरे धीरे फिर वह हुआ स्वच्छ सत्कान्ति-शाली।
ज्योतिर्माला-वलित उस में चन्द्रमा एक न्यारा।
प्यारा-प्यारा-समुदित हुआ चित्त-उत्फुल्ल-कारी ॥३३॥

आभा-वाले उस गगन में हाय! दुर्भाग्यता की।
काली काली अब फिर घटा है महा-घोर छाई।
हा! आंखों से सुबिधु जिस से हो गया दूर मेरा।
ऊधो कैसे यह दुख-मयी मेघ-माला टलेगी ॥३४॥

फूले-नीले-बनज-दल सा गात का रंग-प्यारा।
मीठी-मीठी मलिन मन की मोदिनी मंजु-बातें।
सौंधे-डूबी-अलक जब हैं श्याम की याद आतीं।
ऊधो मेरे हृदय पर तो सांप है लोट जाता ॥३५॥

पीड़ा-कारी-करुण-स्वर से हो महा-उन्मना सी।
हा! रो रोके स-दुख जब यों शारिका पूछती है।
वंशीवाला हृदय-धन सो श्याम मेरा कहां है।
तो है मेरे हृदय-तल में शूल सा बिद्ध होता ॥३६॥

त्यौहारों को अपर कितने पर्व औ उत्सवों को।
मेरा प्यारा-तनय अति ही भव्य देता बना था।
आते हैं वे ब्रज अवनि में आज भी किन्तु ऊधो।
दे जाते हैं परम दुख औ बेदना हैं बढ़ाते ॥३७॥

कैसा-प्यारा जनम दिन था धूम कैसी मची थी।
संस्कारों के समय सुत के रंग कैसा जमा था।
मेरे जी में उदय जब वे दृश्य हैं आज होते।
हो जाती तो प्रबल-दुख से मूर्ति मैं हूं शिला की ॥३८॥

कालिन्दी के पुलिन पर की मध्य-वृन्दाटवी की।
फूलोंवाले-बिटप ढिग की कुंज की आलयों की।
प्यारी-लीला-सकल जब हैं लाल की याद आतीं।
तो कैसा है हृदय मलता मैं बता क्यों उसे दूं ॥३९॥

मारा मल्लोंसहित गज को कंस से पातकी को।
मेटीं सारी नगर-भर की दानवी-आपदायें।
छाया सच्चा-सुयश जग में पुण्य की बेलि बोई।
जो प्यारे ने स-पति-दुखिया-देवकी को छड़ाया ॥४०॥

जो होती है सुरत उन के कम्प-कारी दुखों की।
तो आंसू हैं बिपुल बहते आज भी-लोचनों से।
ऐसी दग्धा परम-दुखिता जो हुई मोदिता है।
ऊधो तो हूं परम-सुखिता हर्षिता आज मैं भी ॥४१॥

तो भी पीड़ा-परम इतनी बात से हो रही है।
काढे लेती मम हृदय क्यों स्नेह-शीला सखी है।
हो जाती हूं मृतक सुनती हाय ! जो यों कभी हूं।
होता जाता मम तनय भी अन्य का लाड़िला है ॥४२॥

मैं रोती हूं हृदय अपना कूटती हूं सदा ही।
हा ! ऐसी ही व्यथित अब क्यों देवकी को करूंगी।
प्यारे जीवें प्रफुलित रहें औ बनें भी उन्हीं के।
धाई नाते बदन दिखला और बारेक जावें ॥४३॥

नाना पूजा अपर कितने यत्नद्वारा जरा में।
मैंने ऊधो ! सुकृति बल से एक ही पुत्र पाया।
सो जा बैठा अरि नगर में हो गया अन्य का है।
मेरी कैसी, अहह कितनी, मर्म्म-बेधी ब्यथा है ॥४४॥

पत्रों पुष्पों रहित बिटपी विश्व में हो न कोई।
कैसी ही हो सरस सरिता वारि-शून्या न होवे।
ऊधो सीपी-सदृश न कभी भाग फूटे किसी का।
मोती ऐसा रतन अपना आह! कोई न खोवे॥४५॥

अंभोजों से रहित न कभी अंक हो बापिका का।
पुष्पों-वाली कलित-लतिका पुष्प-हीना न होवे।
जो प्यारा है परम-धन है जीवनाधार जो है।
ऊधो ऐसी रुचिर-बिटपी शून्य बापी न होवे॥४६॥

छीना जावे लकुट न कभी बृद्धता में किसी का।
ऊधो कोई न कल-छल से लाल लेले किसी का।
पूंजी कोई जनम भर की गांठ से खो न देवे।
सोने का भी सदन न बिना दीप के हो किसी का॥४७॥

उद्विग्ना औ बिपुल-बिकला क्यों न सो धेनु होगी।
प्यारा लैरू अलग जिस की आंख से हो गया है।
ऊधो कैसे ब्यथित-फणि सी जी सकेगा बतादो।
जीवोन्मेषी रतन जिस के शीश का खो गया है॥४८॥

कोई देखे न सब-जग के बीच छाया अंधेरा।
ऊधो कोई निज-दृगों की ज्योति-न्यारी गंवावे।
रो रो हो हो बिकल न सभी बार बीतें किसी के।
पीड़ायें हों सकल, न कभी मर्म्म-बेधी-व्यथा हो॥४९॥

ऊधो होता समय पर जो चारु चिन्ता-मणी है।
खो देता है तिमिर उर का जो स्वकीया प्रभा से।
जो जी में है सुरसरित की स्निग्ध-धारा बहाता।
बेटा ही है अवनि-तल में रत्न ऐसा निराला॥५०॥

ऐसा प्यारा रतन जिसका हो गया है पराया।
सो होवेगी व्यथित कितनी सोच जी में तुम्हीं लो।
जो आती हो मुझ पर दया अल्प भी तो हमारे।
सूखे जाते हृदय-तल में शान्ति-धारा बहा दो ॥५१॥

छाता जाता ब्रज अवनि में नित्य ही है अंधेरा।
जी में आशा न अब यह है मैं सुखी हो सकूंगी।
हां इच्छा है तदपि इतनी और बारेक आके।
प्यारा-प्यारा-बदन अपना लाल मेरा दिखा दे ॥५२॥

—अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

वसन्त और वर्षा

वसन्त वर्णन

(१)

बाटिका-बिपिन लागे छावन रंगीली छटा,
छिति से सिसिर को कसाला भयो न्यारो है।
कूजन किलोल सीं लगे हैं कुल पंछिन के,
'पूरन' समीरन सुगंध को पसारो है।
लागत वसंत नव संतमन जागो मैन,
देन दुख लागो बिरहीन वरियारो है।
सुमन निकुंजन में, कुंजन के पुंजन में,
गुंजत मलिंदन को वृंद मतवारो है॥

(२)

भयो ना विकास है सुबास को सुपास नहीं,
असन प्रकास भानु जो पै बिसतारो है।
रज नाहीं, रंग नाहीं, मधु को प्रसंग नाहीं,
होत न तरल लै तरंग को सहारो है।
तापें भौंर रीझो, मन खीझो जात देखे दसा,
'पूरन'ये कैसो हाय नेम अनुसारो है।
फूल कंज वृंद मकरंद को बिहाय अर-
विंद को कली में जो मलिंद मतवारो है॥

(३)

कुंजन में सघन तमालन के पुंजन में,
करत प्रबेस ना दिनेस उजियारो है।
प्यारी सुकुमारी स्यामा साज सजे ठाढ़ी तहां,
नीलमनि मालन को जाल छबि वारो है।
छिटिके बदन चंद कुंतल अनंद स्याम,
स्यामरंग पागी नाम स्याम तासु प्यारो है।
पूरन सुअंगन पै सौरभ प्रसंग पाय,
झूमै स्याम भौंरन को झौंर मतवारो है।

(४)

कूजन विहंगनि की घंटिका बजै सो मंजु,
ओसकन सोई मद झुरत निहारो है।
'पूरन' प्रसूनन की सुरंग अबांरी सजी,
भृंगन की भीर सो सरीर बरियारो है।

बैठो ऋतुराज तापै जग की करत सैर,
सौरभ अनेक जग माहिं बिसतारो है।
धावत महावत अनंगके इसारे बीर,
सुरभि समीर ये मतंग मतवारो है।

(५)

तू ही है द्रुमन-वृन्द सुमन अनंद तूही,
रंगन की सोभा तूही भृंगन की भीर है।
रुचिर बिहंग तू ही कूजनि अभंग तू ही,
ऋतु रस रंग तू ही रसिक अमीर है।
जगत वसंतवारी सुखमा अनंत तू ही
तू ही निकसंत तू ही दंपति अधीर है।
'पूरन' अनंद तू ही रुचिर सुगंध तू ही,
सीतल सुमंद तू ही सुखद समीर है।

(६)

चंदन बलित चारु देखियतु सुंडदंड,
भृंगन की जौन रज रंजित पतीर है।
सोहत स्रवत डालैं पल्लव बिसाल जौन,
मंजुल सुगंधित स्रवत मदनीर हैं।
सेत कुंद पांत एकदंत की अनंत सोभा,
मंजरी मुकुट अंग फूलन की भीर है।
'पूरन' निकुंज रूपी कुंजरबदनजूको,
बंदत बसंत लीन्हें बिजन समीर है॥

(७)

तू ही है सुमन, तू ही रंग है प्रसूनन में,
सुखमा असीम तू ही तू ही हरियाली है।
तू ही नीर नाली घट कुंड तरु-मूल तू ही,
तू ही फलवालो तू ही पात तू ही डाली है।
जगत की बाटिका को सार सब भांति तू ही,
तू ही ब्रह्म 'पूरन' करत रखवाली है।
भृंगन पतीर तू ही भीर है विहंगन की,
सौरभ समीर तू ही स्वामी तू ही माली है।

(८)

चंपकलता को मेल कीन्हों है तमाल संग
मानौ कोऊ बाला वर पायो बनमाली है।
'पूरन' सुरंग स्वच्छ फूलन की क्यारी रची,
मानौ मनि-चौकन की सुखमा निराली है।
द्रुमन बसाये हैं बिहंग बरबैनवारे,
मानौ गान मंगल की विदित प्रनाली है।
दंपति विवाह को उछाह होत देखे जाहि,
आली यहि बाग को प्रबीन कोउ माली है॥

(९)

चंपक, निवारी, दौना, मोगरा, चमेली, वेला,
गेंदा, गुलदावदी, गुलाब सोभसाली है।
केतकी, कनेर, गुलसब्बो, गुलनार, लाला,
हिना, जसवंत, कुंज, केवड़ा की बाली है।

'पूरन' विविध चारु सुंदर प्रसूनन की,
छटा छिति मंडल में ह्वै रही निराली हैं।
पूजन को मानौ बनमाली के चरनकंज,
साजत बसंत माली फूलन की डाली है॥

(१०)

किंसुक, अनार, गुलनार, सहकार, कुंद,
चंपक, अनार, जसवंत, छबिवंत की।
सीतल सुगंध मंद, दायकअनंद पौन,
कंजवन भृंगबृन्द चंद्रिका दिगंत की।
कोकिल, कलापी कीर चातक कलापन की,
मधुर अलापन की मंगल अनंत की।
ईस भगवंतजू की महिमा कथनहारी,
महिमा में लसै भूरि सुखमा वसंत की॥

वर्षा वर्णन

(१)

चातक समूह बैठ्यो बोलनको बाए मुख,
नाचन को मोर ठाढ़े पांव ही उठाये हैं।
'पूरन'जी पावस को आगम सुखद जान,
आनंद सों बेलिनके हिये लहराये हैं।
द्रोही द्रुमजाति केरे अरक जवास ऐसे!
तेरे जरिबेके अब द्योस नियराये हैं।
हीतल महीतलको सीतलकरनहारे
देखु कैसे प्यारे घन कारे घेरि आये हैं॥

(२)

गाजैं मेघ कारे मोर कूकैं मतवारे रटैं
पापी-वृन्द न्यारे जोर मारुत जनावती।
इन्द्रचाप भ्राजै, बक-अवली बिराजै, छटा
दामिनि की छाजै, भूमि हरित सुहावती।
'पूरन' सिंगार साजि सुंदरी-समाज आज,
झूलती मनोहर मलार मंजु गावती।
चंद बिनु पावस में जानिके सुधा की हानि,
मानो चन्द्रमण्डली पियूष बरसावती॥

(३)

अवली बकनकी विमल दरसाये देत,
चहूं ओर छाए देत घटा घनी काली है।
इन्द्रकी धनुष सप्तरंगी दरसाये देत,
धरा पर देत सरसाये हरियाली है।
पावस सुहायो निज आगम जनाये देत,
धोयके बहाये देत ग्रीसम बिहाली है।
मोरन के सोरन सों कानन रसाए देत,
झंझा की झकोरन झुमाये देत डाली है।

(४)

भांति-भांति फूलन पै भूलन भ्रमर लागे,
कालिंदी के कूलन पै कुंजन अपारन में।
इन्द्र की बधूटिनके वृन्द दरसान लागे,
भौंर सरसान लागे मोरन पुकारन में।

दामिनि छटा सों घटा गाजन अछोर लागी,
राजति हिलोर लागी सरिताकी धारन में।
फूले बन फूले मन आनंद भरन लागे,
झूले लागे परन कदंबन की डारन में ।।

(५)

आई बरसातकी रसीली सुखदाई ऋतु,
छिति पै चहूंधा सरसात सुघराई है।
साजे बैर बसन अभूसन सकल अंग,
झूलत हिंडोरे तरुनीनिसमुदाई है।
पैंगके भरन बिछुवान की मधुर धुनि,
सुनि सुनि 'पूरन' यों उपमा सुनाई है।
हंसन की अवली भुलाय कै पुरानी चाल,
आज ऋतु पावस को दै रही बधाई है।।

(६)

सागर हैं कुंड जाकी नारियां नदीगन हैं,
क्यारियां सघन बन सुखमा निराली है।
बिहरैं अमित जन्तु, विविध प्रतच्छ तैसे,
'पूरन' सुगंध हरि-कीरति प्रनाली है।
जग है बगीचा श्रीरमावर हैं स्वामी तासु,
ऋतु दासगनकी रहत रखवाली है।
चतुर सुरेस चेरो करत सिंचाई रहै,
देव चतुरानन प्रधान ताको माली है।।

(७)

धानी आसमानी सुलैमानी मुलतानी मूंगी,
संदली सिंदूरी सुख सौसनी सुहाये हैं।
कंजई कनैरी भूरे चंपई जंगारी रूरे,
पिस्तई मंजीठी सुरमई घेरि आये हैं।
मासी नीलकंठी गुलाबासी सुखरासी तूसी,
कुसुमी कपासी रंग 'पूरन' दिखाये हैं।
नारंजी पियाजी पोखराजी गुलेनारी घने,
केसरी गुलाबी सुवापंखी मेघ छाये हैं॥

—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

भ्रमर-दूत

श्री राधा बर निजजन-बाधा-सकल-नसावन।
जाकौ ब्रज मनभावन, जो ब्रज को मनभावन।
रसिक-सिरोमनि-मन-हरन, निरमल नेह निकुंज।
मोद भरन उर सुख करन, अविचल आनंद पुञ्जं रंगीलो सांवरो॥१

कंस-मारि भूभार-उतारन खल-दल-तारन।
विस्तारन विज्ञान विमल श्रुति-सेतु-संवारन।
जन-मन-रंजन सोहना, गुन-आगर चितचोर।
भवभय-भंजन मोहना, नागर नन्द किसोर गयो जब द्वारिका॥२

बिलखाती, सनेह पुलकाती, जसुमति माई।
श्याम-बिरह-अकुलाती, पाती कबहुं न पाई।
जिय प्रिय हरि-दरसन बिना, छिन छिन परम अधीर।
सोचति मोचति निसि दिना, निसरत नैननु नीर बिकल कल ना हिये ॥३

पावन सावन मास नई उनई घन पांती।
मुनि-मन-भाई छई रसमई मञ्जुल कांती।
सोहन सुन्दर चहुं सजल, सरिता पोखर ताल।
लोल लोल तहं अति अमल दादुर बोल रसाल छटा चूई परै ॥४

अलबेलौ कहुं बेलि, द्रुमन सों लिपटि सुहाई।
धोये धोये पातन की अनुपम कमनाई।
चातक चलि कोयल ललित बोलत मधूरे बोल।
कूकि कूकि केकी कलित, कुंजनु करत कलोल निरखि घन की छटा ॥५

इन्द्रधनुस औ इन्द्रबधूटिन की सुचि सोभा।
को जग जनम्यो मनुज, जासु मन निरखि न लोभा।
प्रिय पावन पावस लहरि, लहलहात चहुं ओर।
छाई छबि छिति पै छहरि ताको ओर न छोर लसै मन मोहनी ॥६

कहूं बालिका पुंज कुंज लखि परियत पावन।
सुख-सरसावन सरल सुहावन हिय सरसाबन।
कोकिल-कंठ-लजावनी, मनभावनी अपार।
भ्रातृ-प्रेम-सरसावनी, रागत मंजु मल्हार हिंडोलनि झूलतीं ॥७

बालवृन्द हरसत उर-दरसत चहुं चलि आवैं।
मधुर मधुर मुसकाइ रहस बतियां बतरावैं।
तरुवर डार हलावहीं, 'धौरी' 'धूमरि' टेरि।
सुन्दर राग अलापहीं, भौंरा चकई फेरि विविध क्रीड़ा करैं ॥८

लखि यह सुखमा-जाल लाल-निज-बिन नंदरानी।
हरि सुधि उमड़ी घुमड़ी तन उर अति अकुलानी।
सुधि बुधि तजि माथौ पकरि, करि करि सोच अपार।
दृग जल मिस मानहुं निकरि, बही बिरह की धार कृष्ण रटना लगी ॥९

कृष्ण-बिरह की बेलि नई ता उर हरियाई।
सोचन अश्रु-विमोचन दोउ दलबल अधिकाई।
पाइ प्रेम रस बढ़ि गई, तन तरु लिपटी धाइ।
फैल फूटि चहुंधा छई, बिथा न बरनी जाइ अकथ ताकी कथा ॥१०

कहति विकल मन महरि कहां हरि ढूंढ़न जाऊं।
कब गहि लालन ललकत-मन गहि हृदय लगाऊं।
सीरी कब छाती करौं, कब सुत दरसन पाउं।
कबै मोद निज मन भरौं, किहि कर धाइ पठाउं संदेसो स्याम पै ॥११

पढ़ी न अच्छर एक, ज्ञान सपने ना पायो।
दूध दही चारत में सबरो जनम गमायो।
मातपिता बैरी भये, शिक्षा दई न मोहि।
सबरे दिन योंही गये, कहा कहे तें होहि मनहिं मन में रही ॥१२

सुनी गरग सों अनुसूया की पुण्य कहानी।
सीता सती पुनीता की सुठि कथा पुरानी।
विषद-ब्रह्मविद्या-पगी मैत्रेयी तिय रत्न।
शास्त्र-पारगी गारगी, मन्दालसा सयत्न पढ़ीं सब की सबै ॥१३

निज निज जनम धरन को फल उनने ही पायो।
अविचल अभिमत सकल भांति सुन्दर अपनायो।
उदाहरनि उज्जल दयो, जग की तियनि अनूप।
पावन जस दस-दिसि छयो, उनको सुकृति-सरूप पाइ विद्या बलै ॥१४

नारी-सिच्छा निरादरत जे लोग अनारी।
ते स्वदेस-अवनति प्रचंड-पातक अधिकारी।
निरखि हाल मेरो प्रथम, लेउ समझि सब कोइ।
विद्या-बल लहि मति परम अबला सबला होइ लखौ अजमाइ के ॥१५

कौनें भेजौं दूत, पूत सों बिथा सुनावै।
बातनें में बहलाइ, जाइ ताकों यहं लावै।
त्याग मधुपुरी सों गयो, छांड़ि सबन को साथ।
सात समुन्दर पै भयो, दूर द्वारिकानाथ जाइगो को उहां ॥१६

नास जाइ अक्रूर क्रूर तेरो बजमारे।
बातन में दै सबनि लैगयौ प्रान हमारे।
क्यों न दिखावत लाइ कोउ, सूरति ललित ललाम।
कहं मूरति रमनीय दोउ, श्याम और बलराम रही अकुलाइ में ॥१७

अति उदास, बिन आस, सबै-तन-सुरति भुलानी।
पूत प्रेम सों भरी परम दरसन ललचानी।
बिलपति कलपति अति जबै, लखि जननी निज श्याम।
भगत भगत आये तबै, भाये मन अभिराम भ्रमर के रूप में ॥१८

ठिठक्यो, अटक्यो भ्रमर देखि जसुमति महारानी।
निज-दुख-सों अति-दुखी ताहि मन में अनुमानी।
तिहि दिसि चितवत चकित-चित, सजल जुगल भरि नैन।
हरि-वियोग-कातर अमित, आरत गद-गद बैन कहन तासों लगी ॥१९

'तेरो तन घनश्याम श्याम घनश्याम उतैं सुनि।
तेरी गुंज़न सुरलि मधुप, उत मधुर मुरलि धुनि।
पीत रेख तव कटि बसत, उत पीताम्बर चारु।
बिपिन-बिहारी दोउ लसत, एक रूप सिंगारु जुगल रस के चखा ॥२०

'याही कारन निज प्यारे ढिग तोहि पठाऊं।
कहियो वासों बिथा सबै जो अबै सुनाउं।
जैयो षटपद धाय कें, करि निज कृपा बिसेस।
लैयो काज बनायकें, दै मो यह सन्देस सिदौसी लौटियो ॥२१

'जननी-जन्मभूमि सुनियत स्वर्गहु सों प्यारी।
सो तजि सबरो मोह सांवरे तुमनि बिसारी।
का तुम्हरी गति मति भई, जो ऐसो बरताव।
किधौं नीति बदली नई, ताको परऱ्यो प्रभाव कुटिल विष को भऱ्यो ॥२२

'माखन कर पौंछन सों चिक्कन चारु सुहावत।
निधुबन श्याम तमाल रह्यो जो हिय हरसावत।
लागत ताके लखन सीं, मति, चलि वाकी ओर।
बात लगावत सखन सों आवत नन्द-किसोर कितहुं सों भाजिकें ॥२३

'वुही कलिन्दी-कूल कदम्बन के बन छाये।
बरन बरन के लता-भवन मन हरन सुहाये।
वुही कुन्द की कुंज ये, परम-प्रमोद-समाज।
पै मुकुन्द बिन बिस-भये, सारे सुखमा साज चित्त वांही धऱ्यो ॥२४

'लगत पलास उदास, शोक में अशोक भारी।
बौरे बनें रसाल, माधवी लता दुखारी।
तजि तजि निज प्रफुलित पनी, बिरह-बिथित अकुलात।
जड़ हू ह्वै चेतन मनौ, दीन मलीन लखात एक माधौ बिना ॥२५

'नित नूतन तृन डारि सघन बंसी बट छैयां।
फेरि फेरि कर-कमल, चराई जो हरि गैयां।
ते तिंत सुधि अति ही करत, सब तन रहीं झुराय।
नयन स्रवत जल, नहिं चरत, ब्याकुल उदर अघाय उठाये म्हौं फिरें ॥२६

बचन-हीन ये दीन गऊ दुख सों दिन बितवत।
दरस-लालसा लगी चकित-चित इत उत चितवत।
एक संग तिनकों तजत, अलि कहियो, ए लाल।
क्यों न हीय निज तुम लजत, जग कहाय गोपाल मोह ऐसो तज्यो ॥२७

'नील-कमल-दल-श्याम जासु तन सुन्दर सोहै।
नीलाम्बर वसनाभिराम विद्युत मन मोहै।
भ्रम में परि घनश्याम के, लखि घन श्याम अगार।
नाचि नाचि ब्रजधाम के, कूकत मोर अपार भरे आनन्द में ॥२८

'वा बिनु गो ग्वालनु को हित की बात बुझावै।
अरु स्वतंत्रता, समता, सहभ्रातृता सिखावै।
जदपि सकल बिधि ये सहत, दारुण अत्याचार।
पै न कछू मुख सों कहत, कोरे बने गंवार कोऊ अगुआ नहीं ॥२९

'भये संकुचित-हृदय भीरु अब ऐसे भय में।
काऊ को विस्वास न निज-जातीय-उदय में।
लखियत कोउ रीति न भली, नहिं पूरब अनुराग।
अपनी अपनी ढापुली, अपनो अपनो राग अलापें जोर सों ॥३०

'नहिं देसीय भेस भावनु की आसा कोऊ।
लखियत जो ब्रजभासा, जाति हिरानी सोऊ।
आस्तिक बुधि बन्धनन से, बिगरीं सब मरजाद।
सब काऊ के हिय बसे, न्यारे न्यारे स्वाद अनोखे ढंग के ॥३१

'बेलि नवेली अलबेली दोउ नम्र सुहावें।
तिनके कोमल सरल भाव को सब यस गावें।
अबकी गोपी मदभरी, अधर चलैं इतराय।
चार दिना की छोहरी, गइ ऐसी गरवाय जहां देखो तहां ॥३२

'गोबरधन कर-कमल धारि जो इन्द्र लजायौ।
तुम बिन सो तिह को बदलौ अब चहत चुकायौ।
नहिं बरसावत सघन अब, नियम पूरबक नीर।
जासों गो-कुल होत सब, दिन दिन परम अधीर न्यार सपनो भयो ॥३३

'पहले को सो अब न तिहारो यह वृन्दाबन।
या के चारों ओर भये बहुबिधि परिवर्तन।
बने खेत चौरस नये, काटि घने बन पुंज।
देखन कों बस रहि गये, निधुबन सेवा-कुंज कहां चरि हैं गऊ ॥३४

'पहली सी नहिं या जमुना हू में गहराई।
जल को थल, अरु थल को जल अब परत लखाई।
कालीदह की ठौर जहं चमकत उज्जल रेत।
काछी माली करत तहं अपने अपने खेत घिरे झाऊनि सों ॥३५

'नित नव परम अकाल काल को चलत चक्र चहुं।
जीवन को आनन्द न देख्यो जात इहां कहुं।
बढ़यो यथेच्छाचार-कृत जहं देखो तहं राज।
होत जात दुर्बल विकृत दिन दिन आर्यसमाज दिनन के फेर सों ॥३६

'जे तजि मातृभूमि सों ममता, होत प्रवासी।
तिन्हें बिदेसी तंग करत दै विपदा खासी।
नहिं आये-निरदय दई, आये-गौरव जाय।
सांप छछूंदर गति भई, मन ही मन अकुलाय रहे सब के सबै ॥३७

'टिमिटिमाति जातीय-जोति जो दीप-सिखा सी।
लगत बाहिरी ब्यारि बुझन चाहत अबला सी।
सेस न रह्यो सनेह को, काहू हिय में लेस।
कासों कहिये गेह की देसहि में परदेस भयो अब जानिये' ॥३८

—सत्यनारायण 'कविरत्न'

———

विकट भट

ओंठों से हटा के रिक्त स्वर्ण-सुरा-पात्र को,
सहसा विजयसिंह राजा जोधपुर के,
पोकरणवाले सरदार देवीसिंह से
बोले दरबार खास में कि—"देवीसिंहजी,
कोई यदि रूठ जाय मुझसे तो क्या करे?"
बोले सरदार—"खमा पृथ्वीनाथ, यह क्या?
ऐसा कौन होगा कि जो रूठ जाय आप से?"
बोले फिर भूप—"तो भी पूछता हूं, क्या करे?"
"जीवन से हाथ धोवे और मरे मुझसे"
देवीसिंह ने यों कहा। भूप फिर बोले यों—
"और तुम रूठ जाओ तो बताओ, क्या करो?"
देवीसिंह चौंके—"खमा पृथ्वीनाथ, यह क्या!
आपसे मैं रूठ जाऊं, ऐसा भाव क्यों हुआ?"
राजा ने कहा कि "मैंने पूछा है सहज ही,
यदि तुम रूठ जाओ तो बताओ, क्या करो?"
देवीसिंह बोले—"खमा अन्नदाता, यह क्या?
सेवक हूं मैं तो और आप मेरे स्वामी हैं;
आपसे क्यों रूठूंगा भला मैं? आप मुझको—
देते हैं टुकड़े और उनसे मैं जीता हूं;
जाऊंगा कहां मैं फिर रूठ कर आपसे?"
"तोभी, यदि रूठ जाओ?" पूछा फिर राजा ने।
उत्तर दिया यों सरदार ने पुनः—"क्या मैं
नमकहराम हूं जो रूठ जाऊं स्वामी से?"
फिर भी विजयसिंह प्रश्न करने लगे।
सुन कर बार बार बात वही उनकी
वृद्ध वीर ठाकुर को क्रोध कुछ आगया।

लाली दौड़ आई सौम्य, शान्त, गौर गात्र में,
वदन गभीर हुआ, किन्तु रहे मौन वे।
बोले फिर भूप—"देवीसिंहजी, कहा नहीं?
यदि तुम रूठ जाओ मुझसे तो क्या करो?"
"पृथ्वीनाथ, मैं जो रूठ जाऊं" कहा वीर ने—
"जोधपुर की तो फिर बात ही क्या, वह तो
रहता है मेरी कटारी की पर्तुली में ही,
मैं यों 'नवकोटी मारवाड़' को उलट दूं।"
कहते हुए यों ढाल सामने जो रक्खी थी,
बायें हाथ से उन्होंने उलटी पटक दी!
सन्नाटा सभा में हुआ, सब चुपचाप थे;
सिर को हिलाते हुए सन्न रहे राजा भी!

दूसरे दिवस देवीसिंह दरबार में
जाने के लिए जो सिंहपौर पार करके,
चौक में—करों के बल—पीनस से उतरे,
एक जन पीछे से उठा के खड्ग उनका,
भाग गया, लौट कर देखा जो उन्होंने तो
ढाल ही दिखाई पड़ी, चौंक उठे तब वे!
चारों ओर दृष्टि डाली, द्वार सब बन्द थे;
पीनस के डण्डे पर रक्खे हुए हाथ वे
क्षण भर सोचा किये इस अभिसन्धि को।
देखा सिर ऊंचा कर ऊपर को अन्त में—
सामने विजयसिंह छत पर थे खड़े।
"मेरे साथ ऐसा व्यवहार! भला, अब क्या
इच्छा है?" उन्होंने कहा भूपति को देख के।
आज्ञा हुई—"शीघ्र इसे जीता ही पकड़ लो!"
पीनस का डंडा किन्तु अब भी था हाथ में,

जाता कौन मरने को ठाकुर के सामने !
फन्दे तब फेंके गये उनके फंसाने को
और वे फंसाये गये, बांधे गये खम्भ से !

"हां, अब अमल आवे" आज्ञा हुई नृप की ;
सोने के कटोरों में अफीम घुलने लगी।
देवीसिंह को भी वह ठीकरे में मिट्टी के
भेजी गई, देखते ही मानी सरदार से
अब न सहा गया, रहा गया न मौन भी—
"अधम, अधर्मी, अकृतज्ञ, अनाचारी रे,
ऐसा अपमान !" कोड़ा खाके भला घोड़ा ज्यों—
तड़पै, त्यों ठाकुर ने एक झटका दिया,
टूट गये बन्धन तड़ाक, किन्तु वेग था,
संभला न मस्तक, भड़ाक हुआ भीत में !
शोणित की लालिमा को चिन्ह सम छोड़ के
ठाकुर का जीवन-दिनेश अस्त हो गया !

"हाय ! पिता, ऐसा परिणाम हुआ आपका !
किन्तु आपका ही पुत्र हूं मैं, यदि राजा के
सामने प्रणत होऊं तो मैं नत होऊंगा
अपनी ठकुरानी के आगे, यही प्रण है।
आता है चढ़ाई कर पोकरण, आने दो,
देखूंगा कृतघ्न को मैं, प्रस्तुत हो भाइयो,
मान रखने को आज प्राण हमें देने हैं।"
यों कह सबलसिंह पोकरण दुर्ग में
बोले फिर—"जाय वह प्राण जिसे प्यारे हों,
प्रस्तुत हो मरने के अर्थ जो रहे वही।"

"प्रस्तुत हैं हम सब" सैनिकों ने यों कहा
और, जो कहा सो सब करके दिखा दिया ;

प्राण-मोह छोड़ उन मुट्ठी भर वीरों की—
टुकड़ी ने झंझा के समान, जोधपुर के
घोर दल-बादल को छिन्न-भिन्न करके
और भली भांति से उड़ाके धूलि उसकी
रण में सबलसिंह-युक्त गति वीरों की—
पाई और मानों स्वर्ग लेकर ही शान्ति ली !

सबल पिता का पुत्र, पौत्र देवीसिंह का
बालक सवाईसिंह बारह बरस का,
लड़ने को उद्यत था : किन्तु था अकेला ही ;
सेना हत हो चुकी थी पहले ही। राजा का
हुक्म हुआ—"जोधपुर हाजिर करो उसे।"

"बेटा, तुझे राजा ने बुलाया है, न जाने से
तू भी न बचेगा, किन्तु"—बीच में ही माता से
बोला वीर बालक कि "जननी, मैं जाऊंगा।
किन्तु इससे नहीं, कि यदि मैं न जाऊंगा
तो मैं भी बचूंगा नहीं, किन्तु इससे कि मैं
देखूंगा कृतघ्न और क्रूर उस राजा के
सींग पूंछ हैं या नहीं, क्योंकि पशुओं से भी
नीच तथा मूढ़ महा मानता हूं मैं उसे।"
बोली तब वीर-माता आंसुओं से भीग के—
"वत्स, जाने में भी मुझे क्षेम नहीं दीखता।
ससुर गये हैं और स्वामी गये साथ ही,
मेरे लाल, तू भी चला, कैसे धरूं धैर्य्य मैं ?
रोने तक का भी अवकाश मुझे है नहीं ;
तो भी आनबान विना मरना है जीना भी।
तुझको भी प्राणहीन देख सकती हूं मैं,
किन्तु मानहीन देखा जायगा न मुझसे।

सहना पड़ेगा सो सहूंगी, किन्तु देखना,
कहना वही जो कहा तेरे पितामह ने ;
भूल मत जाना जिस बात पर वे मरे।
अच्छा, कह, तेरी कटारी की पर्तली में भी
जोधपुर है या नहीं ?" पुत्र तब बोला यों—
"इसका जवाब उसी घातक को दूंगा मैं ;
तू क्यों पूछती है प्रसू, क्या इस शरीर में
शोणित क्रमागत नहीं है उन्हीं दादा का ?
किन्तु एक प्रार्थना मैं करता हूं तुझसे,
अन्ततः मां, मेरा वह उत्तर सुने विना
छोड़ना न नश्वर शरीर यह अपना।
अपने अभागे इस पुत्र के विषय में
संशय लिये ही चली जाना तू न तात के
पीछे, जिसमें कि उन्हें दे न सके तोष तू !"
"जा, बेटा कदाचित सदा के लिये" हायरे !
करुणा से कण्ठ भर आया ठकुरानी का।
जाकर अंधेरी एक कोठरी में वेग से,
पृथ्वी पर लोट वह रोई ढाढ़ मार के,
व्योम की भी छाती पर होने लगी लीक-सी !

पुनरपि जोधपुर। जीत पोकरण को
पीकर विजयसिंह एक प्याला और भी,
बोले आहुए के सरदार जैतसिंह से—
"जेतसिंह जी, क्या कहीं कोई ठौर ऐसा है
डङ्के को बजा कर मैं जाऊं जहां चढ़ के ?"
बोले जैतसिंह—"पृथ्वीनाथ, भला कौन-सा
ऐसा ठौर है कि जहां जोधपुर के धनी
डङ्के को बजा के चढ़ें ?" भूप फिर बोले यों—
"मैंने दूर दूर तक सोच कर देखा है,

किन्तु तो भी दीख नहीं पड़ता है मुझको;
जाऊं जहां चढ़के मैं। देखूं, तुम्हीं सोचके
ऐसा ठौर बतलाओ।" जैतसिंह बोले यों—
"पृथ्वीनाथ, ऐसा कौन ठौर है बताऊं जो?"
"तो भी" कह ठाकुर की ओर जो महीप ने
देखा तो भृकुटियां थीं टेढ़ी वहां हो रहीं।
बोला सरदार—"पृथ्वीनाथ! पूछते ही हैं
तो मैं कई ऐसे ठौर आपको बताऊंगा,
जैसे है उदयपुर जयपुर है, जहां—
जावें तो हुजूर के भी दांत खट्टे हो जावें!
किन्तु वे तो दूर भी हैं, सेवक को आज्ञा हो,
जाऊं आहुए में और पृथ्वीनाथ डङ्का दे
चढ़कर आवें वहीं!" वीर चुप हो गया।

"ऐसा है!" महीप बोले—"तो मैं बिदा देता हूं,
आहुए पधारें आप और सावधान हों।"
कहके "जो आज्ञा" उठे जैतसिंह शीघ्र ही;
डेरे पर आये और आहुए चले गये।

भाई-बन्द और सब सैनिक भी अपने
जोड़ के उन्होंने सब हाल कहा उनसे।
बोले सब—"चिन्ता कौन-सी है? चढ़ आने दो,
क्या कर सकेंगे महाराज यहां अपना?"
सत्य ही विजयसिंह आहुए का, कोप से
करके चढ़ाई भी न कर सके कुछ भी।
तीन दिन बीत गये युद्ध करते हुए।
बोले तब वे कि—"अरे, टूटा नहीं आहुआ?"
उत्तर मिला यों—"खमा पृथ्वीनाथ, अब भी
आहुए में जैतसिंह जीवित जो बैठे हैं।"

सोचा तब भूप ने कि टूटा नहीं आहुआ
यह तो कलङ्क होगा, "अच्छा, जैतसिंह से
जाकर कहो कि हमें दुर्ग में वे आने दें,
रोकें नहीं।" ठाकुर ने आज्ञा यह उनकी
मान ली, यों भूपति ने आहुए के दुर्ग में
जाकर प्रवेश किया, ठाकुर ने उनकी
फेर दी दुहाई, नजरें दीं, मनुहारें कीं,
और उनके ही साथ आये जोधपुर वे।

किन्तु रात को जो वहां सोये वे महल में
तो फिर जगे नहीं, सबेरे यों सुना गया—
"जैतसिंह मारे गये सोते हुए रात को!"

सुन सब लोग हाय! हाय! करने लगे;
कहता परन्तु कौन भूपति से कुछ भी?
बोला एक चारण कि—"मैं कहूंगा राजा से!"

पहुंचे उसी दिन सवाईसिंह भी वहां;
देख कर लोग उन्हें हाथ मलने लगे—
वारी है अब हा! इस केसरी-किशोर की!

दो दो निज कण्टक जो सालते थे, टाल के
बैठे हैं विजयसिंह आम दरबार में;
किन्तु क्यों, न जानें, आज भी हैं वे उदास-से।
सब सरदार भी हैं बैठे मौन भाव से,
मानों स्तब्ध रजनी में तारागण व्योम के!

"राजा, बुरा काम किया" गूंजी गिरा सहसा!
चौंक कर भूपति ने देखा तब सामने
और दरबारियों ने, चारण था कहता।
कर लिये नीचे सिर देख कर सबने;
किन्तु इतनी भी ताब भूपति की थी नहीं!

कहता था चारण गभीर धीर वाणी से—
"राजा, बुरा काम किया, मैं ही नहीं कहता,
राजा, बुरा काम किया, कहते हैं यों सभी।
मारना नहीं था जैतसिंह जैसे वीर को ;
तोड़नी नहीं थी वह मूर्ति स्वामिधर्म्म की ;
माननी नहीं थीं तुझे बातें बेईमानों की !
तुझ पर मरने को प्रस्तुत था आप ही
शूर वह, मारना ही था तो उसे गाढ़े में
आड़ा कर देना था, न पीछे वह हटता।
वीर वह ऐसा था कि आयुधों की झाड़ी में
तेरा मार्ग स्वच्छ कर देता अग्रगामी हो !
शत्रुओं के हाथियों के हौदे बस खाली ही
तुझको दिखाता वह अपने प्रहारों से।
अब जब युद्ध में विपक्षियों के व्यूह में,
टङ्कारित होंगे चाप, झङ्कारित असियां,
भीड़ पड़ने से तब याद उस वीर की
सालेगी हिये में तुझे, तू ही तब जानेगा।"

मौन हुआ चारण, महीपति भी मौन थे ;
सचमुच जैतसिंह ऐसा ही पुरुष था।
पोकरण और आहुआ थे जोधपुर के—
अर्गल दो, टूट गये किन्तु अब दोनों ही
कौन यवनों को, मराठों को, अब रोकेगा ?
राजा पछताये, भर आये नेत्र उनके ;
किन्तु बस क्या था अब होगया सो होगया।
जी में क्रुद्ध हो रहे थे भूप पर लोग जो
आगई उन्हें भी दया दैन्य देख उनका !

हाथ के इशारे से बिठाते हुए शान्ति से
चारण को, बोले वे—"सवाईसिंह है कहां ?

लाओ उसे शीघ्र" दौड़े चोबदार शीघ्र ही
और बुला लाये उस एक कुलदीप को।

निर्भय मृगेन्द्र नया करता प्रवेश है—
वन में ज्यों, डाले विना दृष्टि किसी ओर त्यों,
भोर के भभूके-सा, प्रविष्ट हुआ साहसी
बालवीर, मन्द मन्द धीर गति से धरा
मानो धंसी जा रही थी, वदन गभीर था,
उठता शरीर मानों अंगे में न आता था,
वक्षस्थल देख के कपाट खुले जाते थे,
मरने मारने ही को मानों कटि थी कसी,
शोभित सुखड्ग उसमें था खरे पानी का,
पर्तली पड़ी थी उपवीत-तुल्य कन्धे में,
उसमें कटार खोंसी, जिसकी समानता
करने को भौंहें भव्य भाल पर थी तनी !
छू रहा था बायां हाथ बढ़ कर जानु को,
दायें हाथ में थी सांग, पीठ पर ढाल थी ;
तोड़े के स्वरूप में था सोना पड़ा पैरों में ;
आकृति ही देती थी परिचय प्रकृति का !

चौंक पड़ी सारी सभा देख वीर बाल को ;
जान पड़ा भूप को कि देवीसिंह ही नया—
जन्म लेके आ रहे हैं आज फिर से यहां !
चाल वही, ढाल वही, गौरव वही तथा
गर्व भी वही है ! तब प्रश्न किया राजा ने—
"बालक, सुनो, क्यों तुम्हें मैंने बुला भेजा है,
जोधपुर रहता था पर्तली में जिसकी
देवीसिंह वाली सो कटारी कहो मुझसे,
अब भी तुम्हारे पास है या नहीं ?" राजा के

पूछने के साथ ही सवाईसिंह ने कहा
निर्भय—"कटारी ? धरा कांपी सदा जिससे ?"
'कण्ठ भी वही है अहा !' जी में कहा राजा ने
सुन के—"कटारी ? धरा कांपी सदा जिससे ?
बिजली की बेटी वह ? भौंह महाकाल की ?
शत्रु के चबाने को कराल डाढ़ यम की ?
चम्पावत ठाकुरों की 'पत' वह लोक में ?
पूछते हैं आप क्या उसीकी बात ?" राजा का
उनके न जानते ही सम्मति के अर्थ में
माथा डुला, कहता था बालक—"तो सुनिये,
दादा ने कटारी वह मेरे पिता के लिए
छोड़ी, और मेरे पिता सौंप गये मुझको।
पर्तली के साथ वह मेरे इस पार्श्व में
अब भी है पृथ्वीनाथ, एक जोधपुर क्या ?
कितने ही दुर्ग पड़े रहते हैं सर्वदा
क्षात्र-कीर्ति-कोषवाली पर्तली में उसकी !
सच्ची बात कहने से आप रूठ जायंगे ;
किन्तु जब पूछते हैं कैसे कहूं झूठ मैं ?
होता जो न जोधपुर पर्तली में उसकी,
कहिये तो कैसे वह प्राप्त होता आपको ?"

सिंहासन छोड़ उठे भूपति तुरन्त ही,
छाती से लगा के उस क्षत्रियकुमार को
चारण से बोले यों कि—"बारटजी, सत्य ही
मैंने बुरा काम किया, भूल हुई मुझसे।
किन्तु देवीसिंह और जैतसिंह दोनों ही
मर के भी जीवित हैं, देखो, इस बच्चे को
और आशीर्वाद दो कि यह सुख से जिये।
मैं भी यही आशीर्वाद आज इसे देता हूं।"

—मैथिलीशरण गुप्त।

बालापन

चित्रकार ! क्या करुणा कर फिर
मेरा भोला बालापन
मेरे यौवन के अञ्चल में
चित्रित कर दोगे पावन ? १

आज परीक्षा तोलो अपनी
कुशल-लेखनी की ब्रह्मन् !
उसे याद आता है क्या वह
अपने उर का भाव-रतन ? २

जब कि कल्पना की तन्त्री में
खेल रहे थे तुम करतार !
तुम्हें याद होगी, उससे जो
निकली थी अस्फुट-झङ्कार ? ३

हां, हां, वही, वही, जो जल, थल,
अनिल, अनल, नभ से उस पार
एक बालिका के क्रन्दन में
ध्वनित हुई थी, बन साकार । ४

वही प्रतिध्वनि निज बचपन की
कलिका के भीतर अविकार
रज में लिपटी रहती थी नित,
मधुबाला की-सी गुञ्जार ; ५

यौवन के मादक-हाथों ने
उस कलिका को खोल अजान,
छीन लिया हा ! ओस-बिन्दु-सा
मेरा मधुमय, तुतला-गान ! ६

अहो विश्वसृज ! पुनः गूंथ दो
वह मेरा बिखरा-संगीत
मा की गोदी का थपकी से
पला हुआ वह स्वप्न पुनीत। ७

वह ज्योत्स्ना से हर्षित मेरा
कलित कल्पनामय-संसार,
तारों के विस्मय से विकसित
विपुल भावनाओं का हार ; ८

सरिता के चिकने-उपलां-सी
मेरी इच्छाएं रङ्गीन,
वह अजानता की सुन्दरता,
वृद्ध-विश्व का रूप नवीन ; ९

अहो कल्पनामय ! फिर रच दो
वह मेरा निर्भय-अज्ञान,
मेरे अधरों पर वह मा के
दूध से धुली मृदु-मुसकान। १०

मेरा चिन्ता-रहित, अनलसित,
वारि-बिम्ब-सा विमल-हृदय,
इन्द्रचाप-सा वह बचपन के
मृदुल-अनुभवों का समुदय ; ११

स्वर्ण-गगन-सा, एक ज्योति से
आलिङ्गित जग का परिचय,
इन्दु-विचुम्बित बाल-जलद-सा
मेरी आशा का अभिनय ; १२

इस अभिमानी-अञ्चल में फिर
अङ्कित करदो, विधि ! अकलङ्क,
मेरा छीना-बालापन फिर
करुण ! लगादो मेरे अङ्क ! १३

विहग-बालिका का-सा मृदु-स्वर,
अर्ध-खिले, नव, कोमल-अङ्ग,
क्रीड़ा-कौतूहलता मन की,
वह मेरी आनन्द-उमङ्ग ; १४

अहो दयामय ! फिर लौटादो
मेरी पद-प्रिय-चञ्चलता,
तरल-तरङ्गों-सी वह लीला,
निर्विकार भावना-लता। १५

धूलभरे, घुंघुराले, काले,
भय्या को प्रिय मेरे बाल,
माता के चिर-चुम्बित मेरे
गोरे, गोरे, सस्मित-गाल ; १६

वह कांटों में उलझी साड़ी,
मञ्जुल फूलों के गहने,
सरल-नीलिमामय मेरे दृग
अस्त्र-हीन, सङ्कोच-सने ; १७

उसी सरलता की स्याही से
सदय ! इन्हें अङ्कित करदो,
मेरे यौवन के प्याले में
फिर वह बालापन भरदो ! १८

हा ! मेरे बचपन-से कितने
बिखर गए जग के शृङ्गार !
जिनकी अविकच-दुर्बलता ही
थी जग की शोभालङ्कार ; १९

जिनकी निर्भयता विभूति थी,
सहज-सरलता शिष्टाचार,
औ जिनकी अबोध-पावनता
थी जग के मङ्गल का द्वार ! २०

हे विधि ! फिर अनुवादित करदो
उसी सुधा-स्मिति में अनुपम
मा के तन्मय-उर से मेरे
जीवन का तुतला-उपक्रम ! २१

—सुमित्रानन्दन 'पंत'।

वे दिन

नव मेघों को रोता था जब चातक का बालक मन,
इन आंखों में करुणा के घिर घिर आते थे सावन !
किरणों को देख चुराते चित्रित पंखों की माया,
पलकें आकुल होती थीं तितली पर करने छाया !

जब अपनी निश्वासों से तारे पिघलातीं रातें,
गिन गिन धरता था यह मन उनके आंसू की पांतें।
जो नव लज्जा जाती भर नभ में कलियों में लाली,
वह मृदु पुलकों से मेरी छलकाती जीवन-प्याली।
घिर कर अविरल मेघों से जब नभमण्डल झुक जाता,
अज्ञात वेदनाओं से मेरा मानस भर आता।
गर्जन के द्रुत तालों पर चपला का बेसुध नर्तन ;
मेरे मनबालशिखी में संगीत मधुर जाता बन।
किस भांति कहूं कैसे थे वे जग से परिचय के दिन !
मिश्री सा घुल जाता था मन छूते ही आंसू-कन।
अपनेपन की छाया तब देखी न मुकुरमानस ने ;
उसमें प्रतिबिम्बित सबके सुख दुख लगते थे अपने।
तब सीमाहीनों से था मेरी लघुता का परिचय ;
होता रहता था प्रतिपल स्मित का आंसू का विनिमय
परिवर्तन-पथ में दोनों शिशु से करते थे क्रीड़ा ;
मन मांग रहा था विस्मय जग मांग रहा था पीड़ा !
यह दोनों दो ओरें थीं संसृति की चित्रपटी की ;
उस बिन मेरा दुख सूना मुझ बिन वह सुषमा फीकी।
किसने अनजाने आकर वह लिया चुरा भोलापन ?
उस विस्मृति के सपने से चौंकाया छूकर जीवन।
जाती नवजीवन बरसा जो करुणघटा कण कण में,
निस्पन्द पड़ी सोती वह अब मन के लघु बन्धन में !
स्मित बनकर नाच रहा है अपना लघु सुख अधरों पर ;
अभिनय करता पलकों में अपना दुख आंसू बनकर।
अपनी लघु निश्वासों में अपनी साधों की कम्पन ;
अपने सीमित मानस में अपने सपनों का स्पन्दन !
मेरा अपार वैभव ही मुझसे है आज अपरिचित ;
हो गया उदधि जीवन का सिकता-कण में निर्वासित !

स्मित ले प्रभात आता नित दीपक दे सन्ध्या जाती ;
दिन ढलता सोना बरसा निशि मोती दे मुस्काती ।
अस्फुट मर्मर में, अपनी गति की कलकल उलझाकर,
मेरे अनन्तपथ में नितसंगीत बिछाते निर्झर ।
यह सांसें गिनते गिनते नभ की पलकें झप जातीं ;
मेरे विरक्तिअञ्चल में सौरभ समीर भर जातीं ।
मुख जोह रहे हैं मेरा पथ में कब से चिर सहचर !
मन रोया ही करता क्यों अपने एकाकीपन पर ?
अपनी कण कण में बिखरीं निधियां न कभी पहिचानी
मेरा लघु अपनापन है लघुता की अकथ कहानी ।
मैं दिन को ढूंढ रही हूं जुगनू की उजियाली में ;
मन मांग रहा है मेरा सिकता हीरक-प्याली में !

—महादेवी वर्मा ।

———